

स्वतंत्र भारत में राजनीति

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक



स्वतंत्र भारत में राजनीति

कक्षा 12

एनसीईआरटी

12122



राष्ट्रीय शिक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 81-7450-769-8

व्युत्पाद (QR) कोड से संबद्ध ई-सामग्री प्राप्त करने के लिए मार्गदर्शिका

प्रत्येक अध्याय के ऊपर कोरोना विषय को विषयक रिस्पोन्स कोड — व्युत्पाद (QR) कोड कहते हैं। यह व्युत्पाद कोड वालों अध्याय में ऐए गए लिप्तियों से संबंधित ई-सामग्री, जैसे बाइडियो, बीडियो, मल्टीमीडिया, पात्र्य-सामग्री आदि को प्राप्त करने में मदद करता करेगा। यहला क्यू डाटा कोड सभी ई-फल्युचुलक प्राप्त करने के लिए है। बाद में प्रत्येक अध्याय में ऐए गए क्यू डाटा कोड उस अध्याय में संबंधित ई-सामग्री प्राप्त करने में मदद करेंगे। यह कोड आपको आगे पूर्ण होने के साथ से मदद करेंगे।

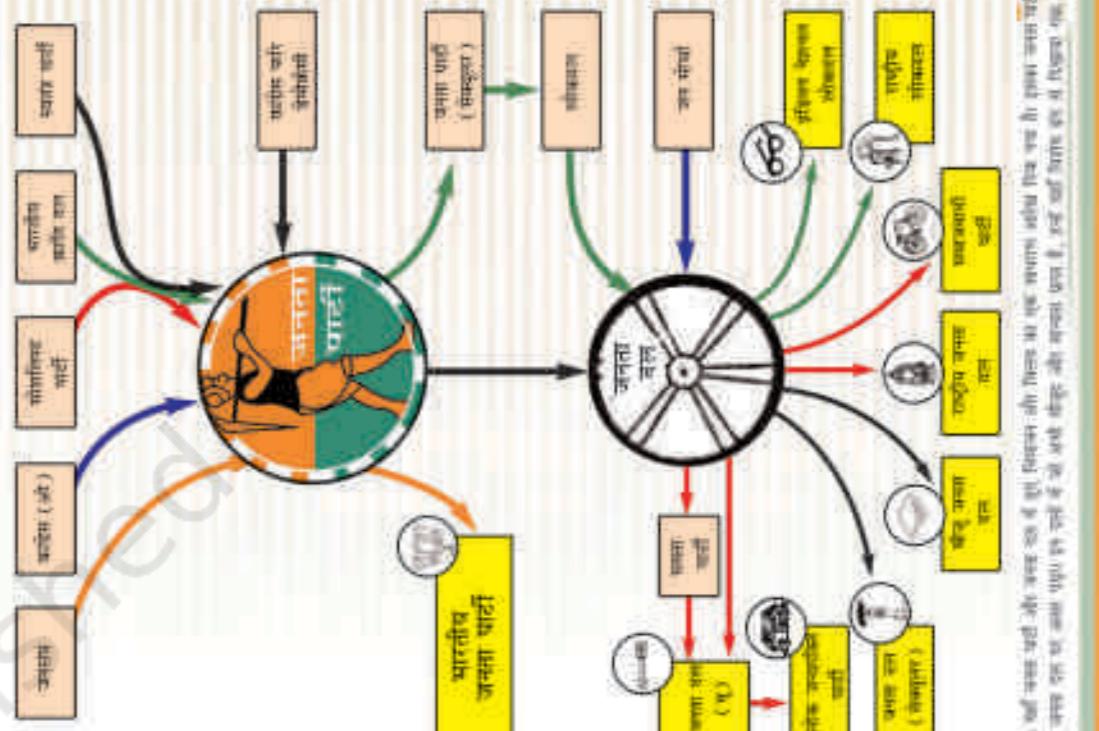
अपने मोबाइल फ़ोन या डेवलोप्ट्रोट द्वारा निम्नवत् चरणों का पालन करे और ई-सामग्री प्राप्त करें।



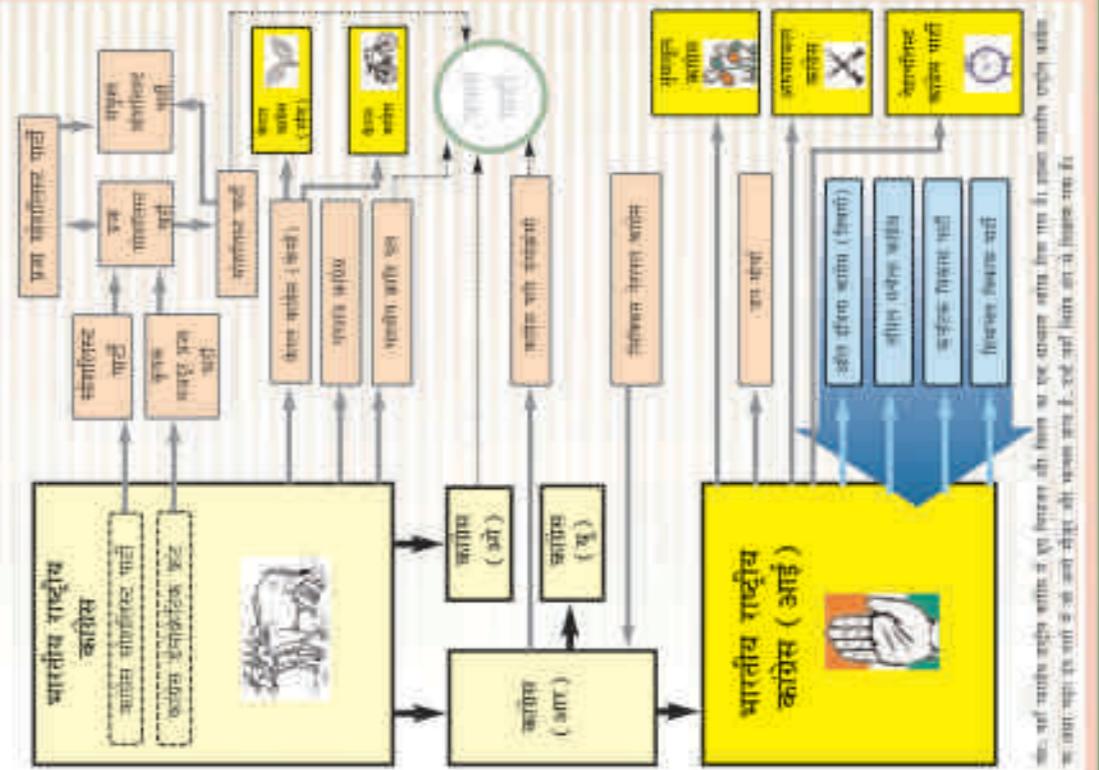
कम्प्यूटर या लैपटॉप पर ई-सामग्री प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाएं।

1. फ़ाइरफॉर्स (), कोर () अवृद्धि वेब ब्राउज़र योगे।
2. ई-पाठशाला लैक्साइट पर जाएं (<http://epathshala.nic.in>)।
3. 'एक्सेस ई-सामग्री' वाले बॉक्स पर क्लिक करें।
4. प्रत्येक व्युत्पाद कोड () के नीचे ऐए गए अध्यायकोष कोड को देंखते करें।
5. अब जो लिंक प्रदूषित हुए हैं, उनके प्रयोग से ई-सामग्री प्राप्त करें।

जनता पार्टी/जनता वल: विभाजन और विलय



कांग्रेस: विभाजन और विलय



सभी चरण यहीं तक हैं कि जनता वल वा विभाजन वल के बाहर की ओर नहीं हैं जो अपने लोगों के लिए अपनी जनता को बढ़ावा देते हैं। जनता वल वा विभाजन वल के बाहर की ओर नहीं हैं जो अपने लोगों के लिए अपनी जनता को बढ़ावा देते हैं।

जनता पार्टी वा जनता वल वा विभाजन वल के बाहर की ओर नहीं हैं जो अपने लोगों के लिए अपनी जनता को बढ़ावा देते हैं। जनता पार्टी वा जनता वल वा विभाजन वल के बाहर की ओर नहीं हैं जो अपने लोगों के लिए अपनी जनता को बढ़ावा देते हैं।

स्वतंत्र भारत में राजनीति

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 81-7450-769-8

प्रथम संस्करण

| | |
|--------------|--------------|
| जून 2007 | ज्येष्ठ 1929 |
| पुनर्मुद्रण | |
| जनवरी 2008 | माघ 1929 |
| मार्च 2009 | फाल्गुन 1930 |
| जनवरी 2010 | माघ 1931 |
| नवंबर 2010 | कार्तिक 1932 |
| मार्च 2013 | फाल्गुन 1934 |
| जनवरी 2014 | माघ 1935 |
| दिसम्बर 2014 | पौष 1936 |
| दिसम्बर 2015 | पौष 1937 |
| फरवरी 2017 | माघ 1938 |
| दिसम्बर 2017 | पौष 1939 |
| जनवरी 2019 | पौष 1940 |

PD 45T RSP

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,
2007

₹ ?? .00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर
पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नवी
दिल्ली 110 016 प्रकाशित तथा _____

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्ण अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्ण अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न हो जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। खबड़ को मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मात्र नहीं होगा।

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस

श्री अरविंद मार्ग

नवी दिल्ली 110 016

फोन : 011-26562708

108, 100 फ्लाई रोड

हेली एक्सेसेन, होस्टेल्स

बनाशकरी III इस्टेज

बैंगलूर 560 085

नवजीवन ट्रस्ट भवन

डाकघर नवजीवन

अहमदाबाद 380 014

फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस

निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहाटी

कोलकाता 700 114

फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स

मालीगांव

गुवाहाटी 781021

फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

- | | | |
|-------------------------|---|----------------|
| अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग | : | एम. सिराज अनवर |
| मुख्य संपादक | : | श्वेता उप्पल |
| मुख्य व्यापार प्रबंधक | : | गौतम गांगुली |
| मुख्य उत्पादन अधिकारी | : | अरुण चितकारा |
| सहायक संपादक | : | शशि चड्डा |
| उत्पादन सहायक | : | सुनील कुमार |

आवरण, सज्जा

श्वेता राव

चित्र

इरफान

कार्टोंग्राफी

एआरके ग्रॉफ़िक्स

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नई राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास है। इस प्रयास में हर विषय को एक मजबूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का कितना अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज्ञादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूँझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुशक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना वार्षिक कैलेंडर के अमल में चुस्ती ताकि शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक बच्चों के स्कूली जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिषद्म के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष प्रोफेसर हरि वासुदेवन और राजनीति विज्ञान पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार प्रोफेसर सुहास पलशीकर, प्रोफेसर योगेंद्र यादव तथा सलाहकार डॉ. उज्ज्वल कुमार सिंह का विशेष तौर पर आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक



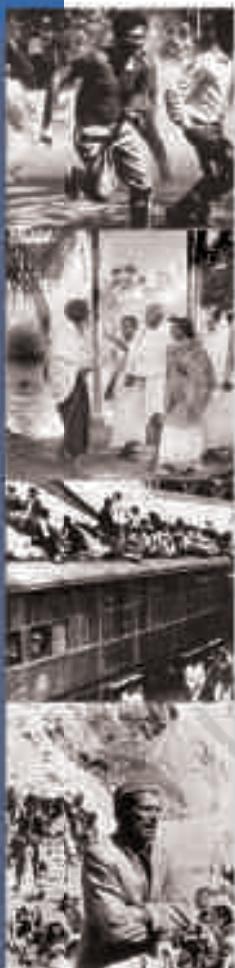
एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी.टिप्पणियों व सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक

नयी दिल्ली

20 दिसंबर 2006

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्



पाठकों के नाम एक पत्र

हिंदुस्तान की आजादी और लोकतांत्रिक राजनीति ने अपने साठ साल पूरे कर लिए हैं। ऐसे में यह उचित ही है कि हम पीछे मुड़कर देखें और इस अवधि पर सोच-विचार करें। इन छह दशकों में हमारी राजनीति में कई प्रवृत्तियाँ उभरीं – हमारी राजनीति का रूप-विन्यास कई दफे बदला। इस क्रम में हमारी लोकतांत्रिक राजनीति की खूबियाँ और खामियाँ उजागर हुई। लेकिन, यह सोचकर बड़ा आश्चर्य होता है कि अपने देश के नौजवान नागरिक स्वतंत्र भारत की राजनीति के इतिहास के बारे में बड़ा कम जानते हैं। आपको आजादी के आंदोलन के बारे में अच्छी जानकारी हो गई होगी क्योंकि आपने इसके बारे में इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा है। मैंडिया की खबरों से आप समकालीन राजनीति के बारे में भी थोड़ा-बहुत जानते हैं। लेकिन, आजादी के आंदोलन के बाद का जो दौर राजनीति के मौजूदा मुकाम तक पहुँचा है उसके बारे में बहुत कम नौजवानों को ज्यादा जानकारी होगी। यह किताब आजादी के आंदोलन और समकालीन राजनीति के बीच की इसी अवधि के बारे में आपसे बातें करती है। इस किताब में हमारे लोकतंत्र की पिछले साठ सालों की यात्रा की कथा कही गई है ताकि जिस राजनीतिक वास्तविकता के परिवेश में हम-सब जी रहे हैं, आप उसके अर्थ समझ सकें।

पिछले साठ सालों में जो घटनाएँ हुई हैं, उन सबका अथवा प्रमुख घटनाओं का ही इस किताब में कोई कालक्रमानुसार व्यूरा नहीं दिया गया है। हमने पिछले साठ सालों के इतिहास को कुछ बड़े मसलों और विषयवस्तु के इर्द-गिर्द बुनने की कोशिश की है। इस किताब के शुरुआती आठ अध्यायों में भारतीय राजनीति की एक खास अवधि को समेटने की कोशिश की गई है लेकिन ऐसा करते हुए घटनाओं के चयन का ध्यान रखा गया है। किन्हीं सालों में जिस मसले अथवा प्रवृत्ति का जोर ज्यादा रहा हो, हमने उसी के इर्द-गिर्द घटनाओं का चयन किया है। आखिरी अध्याय में ऐसे कई मुद्दों पर एक सरसरी नज़र डाली गई है जो हाल-फिलहाल के सालों में उभरे हैं।

माना जाता है कि राजनीति सत्ता का शतरंज है जिसे कुछ बड़े नेता खेलते हैं। एक तरह से यह सही भी है कि राजनीति का सरोकार सत्ता से होता है। लेकिन राजनीति का आशय मिलजुल कर फ़ैसला करने, मतभेदों के बीच ताल-मेल बैठाने और सबकी रजामंदी हासिल करना भी होता है। इसी कारण अगर कोई सामूहिक मामला हो तो हम बगैर राजनीति के उसका निपटारा नहीं कर सकते। ठीक उसी तरह यह बात सच है कि बड़े नेता राजनीति के अमल पर असर डालते हैं लेकिन राजनीति किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं और कुंठाओं के घेरे में कैद कोई कथा नहीं है – इसकी सरहद इससे बहुत आगे तक जाती है। इसी कारण, आप देखेंगे कि इस किताब में राजनीति की कथा के पात्रों पर खास जोर नहीं दिया गया है। हाँ, आपको अलग-अलग पन्नों पर राजनेताओं के राजनीतिक जीवन से संबंधित कुछ प्रमुख सूचनाएँ ज़रूर मिल जाएँगी ताकि जिस दौर के बारे में आप पढ़ रहे हैं उसको भली-भाँति समझ सकें। बहरहाल, हमारी कत्तई यह मंशा नहीं कि आप जीवनीपरक इन सूचनाओं का रद्दा लगाएँ।

गुजरे वक्त की एक जीवंत छवि आपके मन में कौंधे – इसके लिए हमने इस किताब में अनेक फोटोग्राफ्स, कार्टून, मानचित्र तथा अन्य तस्वीरें शामिल की हैं। राजनीति विज्ञान की पिछली किताबों की तरह इस बार भी आपकी भेंट ‘उन्नी-मुन्नी’ से होगी। इस बार भी वे आपके सामने अपने भोले मगर चोखे और चुभते सवालों-टिप्पणियों के साथ नमूदार होंगे। बहरहाल, अब तक आप जान गए होंगे कि ‘उन्नी-मुन्नी’ जो कुछ कह रहे हैं वह इस पाठ्यपुस्तक की आधिकारिक राय नहीं है। आप ही नहीं, संभव है, इस पाठ्यपुस्तक के लेखक भी ‘उन्नी-मुन्नी’ की बातों से असहमत हों। लेकिन, इन दोनों की तरह आपको भी हर चीज़ पर सवाल उठाना चाहिए।



इस किताब में जिस दौर की चर्चा की गई है उसके कथा-नायकों अथवा किसी घटना पर कोई दो-टूक फ़ैसला सुनाने से परहेज़ किया गया है। किताब की मंशा आपको सूचनाओं और दृष्टिकोण से परिचित कराना है ताकि आप राजनीति विज्ञान के छात्र अथवा देश के नागरिक के रूप में राजनीति पर कहीं ज्यादा सुचिन्तित और जानकारी भरा पक्ष ले सकें। इसी वजह से हमने यह कथा खुले ढंग से कही है और बातों को तटस्थ होकर लिखा है। यह कोई आसान काम नहीं था क्योंकि इस किस्म की किताब को लिखने में सारे 'विवादास्पद' मुद्दों को एक तरफ खिसकाकर नहीं चला जा सकता। किताब में जिस दौर की चर्चा की गई है उससे जुड़े कई अहम मुद्दों पर गहरे राजनीतिक मतभेद रहे हैं और अब भी बने हुए हैं।

इस किताब को जिस टोली ने तैयार किया है उसने विषय के साथ तटस्थता का बरताव करने के लिए कुछ कायदों का पालन किया। पहली बात तो यही कि किसी विवादास्पद मुद्दे पर लिखते हुए एक से ज्यादा दृष्टिकोण दिए गए हैं। दूसरे, यथासंभव प्रामाणिक स्रोतों मसलन विभिन्न आयोगों की रिपोर्ट या अदालत के फ़ैसलों का इस्तेमाल किया गया है और इन स्रोतों के आधार पर महत्वपूर्ण व्यारों का खाका खींचा गया है। तीसरे, यह किताब स्वतंत्र भारत की राजनीति की कथा, विभिन्न सामग्रियों के आधार पर सुनाती है जिसमें अकादमिक लेखन से लेकर अखबार और पत्रिकाओं की कतरन तक शामिल है। चौथे, किताब में मौजूदा नेताओं की राजनीतिक भूमिका की विस्तृत चर्चा से परहेज़ किया गया है।

इस पाठ्यपुस्तक को लिखना खासतौर पर चुनौती भरा काम साबित हुआ क्योंकि हमारे पास विवेच्य अवधि पर पर्याप्त सूचनाएँ नहीं थीं। अधिकांश ऐतिहासिक सामग्री अब भी शोधकर्ताओं की पहुँच से बाहर हैं। इस दौर पर केंद्रित ऐसा मानक इतिहास लेखन भी ज्यादा मौजूद नहीं कि उसके आधार पर किसी पाठ्यपुस्तक को तैयार किया जा सके। पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति ने इस चुनौती को एक संभावना के रूप में लिया। हम टोली के सदस्यों के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने विभिन्न अध्यायों के प्रारूप लिखने के लिए अपना कीमती समय निकाला। जमू-कश्मीर और पंजाब से जुड़ी इस पुस्तक की पाठ्यसामग्री का प्रारूप तैयार करने के लिए हम क्रमशः प्रोफेसर रेखा चौधरी और सुरिंदर जोधका के कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक की पाठ्यसामग्री के महत्व और संवेदनशील प्रकृति को देखते हुए फ़ैसला किया गया था कि प्रारूप को राजनीति विज्ञानियों और इतिहासकारों की एक टोली कई दफे जाँचेगी। हमने ऐसे तीन 'पाठकों' – डा. रामचंद्र गुहा, प्रोफेसर सुनील खिलानी और डा. महेश रंगराजन से इस पुस्तक के पूरे प्रारूप को पढ़ने का अनुरोध किया ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि विषयवस्तु के साथ पूरी तटस्थता बरती गई है और दी गई जानकारी सटीक है। हम इन तीन 'पाठकों' के कृतज्ञ हैं। इन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकार किया और अपना बेशकीमती वक्त निकालकर पूरे प्रारूप को पढ़ा तथा अपनी राय दी। इन तीनों की टिप्पणियों से हमारा उत्साह बढ़ा और इनके सुझावों की वजह से हम पुस्तक में कई गलतियों से बच सके। हम रामचंद्र गुहा के विशेष रूप से आभारी हैं। हमने उनकी पुस्तक 'झंडिया ऑफर गांधी' से भरपूर मदद ली है। डा. फिलिप ओल्डेनबर्ग ने भी इस पुस्तक के कई हिस्सों को पढ़ा और मूल्यवान टिप्पणी की। एक सौभाग्य यह भी रहा कि राष्ट्रीय निगरानी समिति की एक उप-समिति में प्रोफेसर मृणाल मिरी, जी.पी. देशपांडे और गोपाल गुरु जैसे प्रसिद्ध विद्वान शामिल थे और इन्होंने इस किताब को कम से कम तीन दफे शुरू से लेकर आखिर तक पढ़ा। इस किताब को आद्योपांत पढ़ने और अपनी विस्तृत टिप्पणी देने के लिए हम राजनीति विज्ञानी टीना चक्रवर्ती के भी आभारी हैं। हम एनसीईआरटी के निदेशक प्रोफेसर कृष्ण कुमार और पाठ्यपुस्तक परामर्श समिति के अध्यक्ष प्रोफेसर हरि वासुदेवन को हृदय से आभार देना चाहते हैं। इन्होंने इस नाजुक काम में समय-समय पर हमें मशविरा दिया और मार्ग-दर्शन किया। हम प्रोफेसर यशपाल के आभारी हैं कि उन्होंने इस पुस्तक में रुचि ली और अपना समर्थन दिया।





हम दिल्ली स्थित विकासशील समाज अध्ययन पीठ के 'लोकनीति कार्यक्रम' के आभारी हैं। इस पाठ्यपुस्तक की रचना के लिए ज़रूरी संसाधन को जुटाने और पुस्तक को तैयार करने के दौरान घर जैसा माहौल प्रदान करने में 'लोकनीति' ने कोई कसर नहीं रखी। विकासशील समाज अध्ययन पीठ से जुड़े उनके सदस्यों मसलन, लोकनीति के संजीव आलम, अविनाश झा, बालाजी मदीक, हिमांशु भट्टाचार्य और 'सराय' के रविकांत तथा मुहम्मद कुरैशी शामिल हैं, ने इस पुस्तक के निर्माण में भरपूर सहायता दी। हम डाक-टिकट संग्राहक विभाग के अधिकारियों, खासकर कावेरी बनर्जी और भारतीय डाक सेवा से संबद्ध नीरज कुमार और संध्या आर. कनेगति के आभारी हैं। इन्होंने हमें बड़ी संख्या में डाक-टिकट उपलब्ध कराए और उन्हें छापने की अनुमति दी। हम इस पुस्तक की सामग्री के रूप में फिल्मों के चयन के क्रम मदद देने के लिए मिलिन्ड चंपानरकर; कुछ महत्वपूर्ण जानकारियों के लिए राधिका मेनन; हिंदुस्तान टाइम्स फोटो लाइब्रेरी के समृद्ध संग्रह से ज़रूरी सामग्री जुटाने में मदद देने के लिए विपुल मुद्गल, रीतु और धर्मवीर; नई दुनिया के पुराने अंकों की प्रति उपलब्ध कराने के लिए भानु चौबे और अभ्य छजलानी; 'द हिन्दू' अखबार के पुस्तकालय से चित्र और खबरों की कतरन जुटाने में मददगार राजेन्द्र बाबू; यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन के पुस्तकालय तथा नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी नई दिल्ली के अधिकारियों के आभारी हैं। पुस्तक को सुधारने में मिनि राय का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

एलेक्स जार्ज, पंकज पुष्कर, के.के. कैलाश और एम. मनीषा इस किताब को तैयार करने में जुटी टोली के मेरुदंड साबित हुए। बात पुस्तकालयों और स्रोत-सामग्रियों के अन्य भंडारों को खंगालने की हो अथवा दृश्य-सामग्री जुटाने और तथ्यों की जाँच करने की, इस टोली ने हर काम को भरपूर लगान से अंजाम दिया। इन लोगों के बहुमुखी सहयोग और खासकर पंकज पुष्कर की अटूट कार्यनिष्ठा के बांगे यह पुस्तक इस शक्ति में मुकम्मल नहीं हो पाती। इस पुस्तक को हिंदी में लाते समय हमारा आग्रह था कि पुस्तक अनूदित होकर भी मूल का सा स्वाद दे। इस चुनौती को सामने रखकर पुस्तक को हिंदी में अनूदित करने का श्रमसाध्य कार्य चंदन श्रीवास्तव ने किया। इस संस्करण की तैयारी के लिए आयोजित एक कार्यशाला में नरेश गोस्वामी, राजेश कुमार यादव और मेधा ने भागीदारी की और अपनी विशेषज्ञता से कई चरणों में हमारा सहयोग किया। पाठगत अशुद्धियों को सुधारने में सहयोग देने के लिए हम नवनीति सहाय 'बेदार' और सैयद अज़फ़र अहसन के आभारी हैं। इस किताब को संवारने में उन्नी-मुन्नी के रचयिता इरफ़ान ख़ान, नक्शों और आरेखों के संयोजक एआरके ग्राफिक्स तथा पुस्तक की रूप-सज्जा की शिल्पी श्वेता राव का विशेष योगदान रहा। इन्होंने अपने कलाबोध से इस किताब को रंगो-आब दिया। हम इनके सहयोग के लिए आभार प्रकट करते हैं। कहना न होगा कि एनसीईआरटी की मुख्य संपादक श्वेता उप्पल ने इस पुस्तक की तैयारी में अटूट कर्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया। हम उनके धैर्य और कार्य-कौशल के लिए आभारी हैं। पुस्तक की रूप सज्जा को सजाने-संवारने की प्रक्रिया में अरविंद शर्मा, उत्तम कुमार, दीप्ति शर्मा, अंजना बरखी और शशी देवी ने पूरी लगान से साथ दिया। इस कार्य में रवि भंडारी, विक्रम सिंह रावत एवं योगेश कुमार भी हमारे सहयोगी रहे।

यह पुस्तक भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता के प्रति हमारा यह नम्र निवेदन है। देश के लोकतांत्रिक चिन्तन-मनन में चंद बातें और जुड़ें – यही इस पुस्तक का विनम्र प्रयास है। हमें पूरी उम्मीद है कि किताब को इसी जज्बे से देखा-पढ़ा जाएगा और यह पुस्तक सिर्फ छात्रों के लिए ही नहीं बल्कि देश के अन्य नौज़वान नागरिकों के लिए भी उपयोगी साबित होगी।

उज्ज्वल कुमार सिंह
सलाहकार

सुहास पलशीकर और योगेन्द्र यादव
मुख्य सलाहकार

पढ़ने समझने के लिए कुछ और सामग्री...

अचन विनायक. 1990. द पेनफुल ट्रॉजिशन: बुर्जुआ'जी डेमोक्रेसी इन इंडिया. वरसो. लंदन और न्यूयार्क

नीरजा गोपाल जयाल (संपा.). 2001. डेमोक्रेसी इन इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

पार्थ चटर्जी (संपा.). 1997. स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

प्रताप भानु मेहता. 2003. द बर्डेन ऑफ डेमोक्रेसी, पेंगिन बुक्स, दिल्ली

पॉल आर. ब्रास. 1994 (द्वितीय संस्करण). द पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस. कैबिज्ज यूनिवर्सिटी प्रेस (भारत में फांडेशन बुक्स, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित)

बिपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी और आदित्य मुखर्जी. 2000. इंडिया ऑफ्टर इंडिपेंडेंस (1947-2000). पेंगिन बुक्स, दिल्ली

रजनी कोठारी. 1950. पॉलिटिक्स इन इंडिया. ओरिएंट लाइब्रेरी, दिल्ली

रामचंद्र गुहा, 2007. इंडिया ऑफ्टर गाँधी: हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड्स् लार्जस्ट डेमोक्रेसी. पैन मैकमिलन, पिकाडोर, इंडिया, दिल्ली

सुदीप्त कविराज (संपा.). 1997. पॉलिटिक्स इन इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

सुनील खिलनानी. 2003. द आइडिया ऑफ इंडिया. पेंगिन, लंदन

ग्रेनविल ऑस्टिन. 1999 वर्कइंग ए डेमोक्रेटिक कान्सटीट्यूशन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

फ्रेंकिन आर. फ्रेंकल. 2005. इंडियॉज़ पॉलिटीकल इकोनॉमी (1947-2004). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा.). 2002. लोकतंत्र के सात अध्याय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा.). 2002. आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा.). 2003. राजनीति की किताब, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा.). 2005. बीच बहस में सेक्युलरवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे. 2003. भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

आशीष नंदी. 2005. राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

आशीष नंदी. 2005. राष्ट्रवाद का अयोध्याकाण्ड, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

पवन कुमार वर्मा. मध्यवर्ग की अजीब दास्तान, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

मधु किश्वर. 2005. राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली



पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, प्रोफेसर, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

सुहास पळशीकर, प्रोफेसर, राजनीति एवं लोक प्रशासन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे
योगेंद्र यादव, सीनियर फेलो, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली

सलाहकार

उज्ज्वल कुमार सिंह, रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सदस्य

आदित्य निगम, फेलो, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली

अखिल रंजन दत्त, लेक्चरर (राजनीति विज्ञान) गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी

एलेक्स जॉर्ज, स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता, इरुवट्टी, केरल

अनुराधा सेन, पूर्व प्रिंसिपल, द सृजन स्कूल, नयी दिल्ली

भरणी दीक्षित, फैकल्टी, इंटरनेशनल एकेडमी ऑफ़ क्रिएटिव टीचिंग, बंगलोर

द्वैपायन भट्टाचार्य, फेलो, सीएसएसएस, कोलकाता।

कैलाश के. के., लेक्चरर (राजनीति विज्ञान), पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

एम. मनीषा, सीनियर लेक्चरर (राजनीति विज्ञान), लॉरेटो कॉलेज, कोलकाता

मंजरी काटजू, रीडर (राजनीति विज्ञान), हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

पंकज पुष्कर, सीनियर लेक्चरर (राजनीति विज्ञान), विकासशील समाज अध्ययन पीठ,
दिल्ली

मल्ला वी.एस.वी. प्रसाद, लेक्चरर (राजनीति विज्ञान), सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

राजेश्वरी देशपांडे, रीडर (राजनीति विज्ञान), पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

सजल नाग, प्रोफेसर (इतिहास), असम विश्वविद्यालय, सिलचर

संदीप शास्त्री, निदेशक, इंटरनेशनल एकेडमी ऑफ़ क्रिएटिव टीचिंग, बंगलोर

शैलेन्द्र खरत, लेक्चरर (राजनीति विज्ञान), शिंडे सरकार कॉलेज, कोल्हापुर, महाराष्ट्र

श्रीलेखा मुखर्जी, पी.जी.टी., सेंट पॉल स्कूल, नयी दिल्ली

हिंदी अनुवाद

चंदन कुमार श्रीवास्तव, स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता, नयी दिल्ली

नरेश गोस्वामी, स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता, नयी दिल्ली

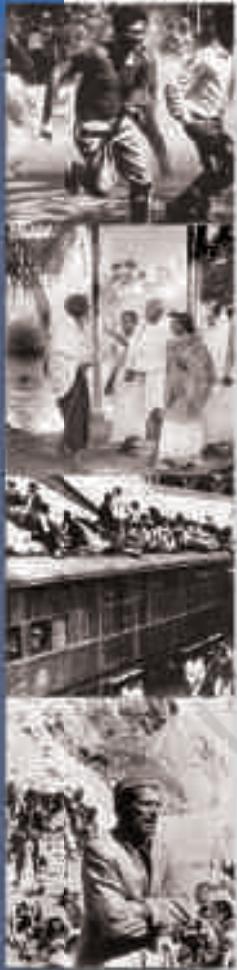
मेधा, स्वतंत्र पत्रकार एवं अनुसंधानकर्ता, नयी दिल्ली

पंकज पुष्कर, लोकनीति, विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

संजय दुबे, रीडर, सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,
नयी दिल्ली





अपनी राय ज़रूर दें

आपको यह किताब कैसी लगी? इसे पढ़ने या इसका प्रयोग करने का आपका अनुभव कैसा रहा? आपको इसमें क्या-क्या परेशानियाँ हुईं? पुस्तक के अगले संस्करण में आप इसमें क्या-क्या बदलाव चाहेंगे? इन सबके बारे में या किसी भी नए सुझाव के संबंध में हमें अवश्य लिखें। आप अध्यापक हों, अभिभावक हों, छात्र हों या सामान्य पाठक, हर कोई सलाह दे सकता है। किताबों में बदलाव की प्रक्रिया में आपके सुझाव अमूल्य हैं। हम हर सुझाव का सम्मान करते हैं।

कृपया हमें इस पते पर लिखें

समन्वयक (राजनीति विज्ञान)

सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी.

श्री अरविंद मार्ग, नवी दिल्ली-110 016

आभार

इस पुस्तक में इस्तेमाल किए गए विभिन्न डाक-टिकट, कार्टून, अखबार की कतरन, तस्वीर तथा पाठांशों के लिए हम निम्नलिखित के आभारी हैं:

डाक-टिकट

इस पुस्तक में इस्तेमाल किए गए समस्त डाक-टिकटों के लिए डाक और तार विभाग (भारत सरकार) के द नेशनल फिलाटेली ब्यूरो के हम आभारी हैं।

कार्टून

पृष्ठ 18, 70, 71, 82, 85, 93, 98, 106, 109, 110, 114, 116, 119, 122, 124, 153, 169 और 174 पर अंकित आर.के. लक्षण कृत कार्टून के लिए शंकर नारायणन और टाइम्स ऑफ इंडिया का; पृष्ठ 21, 22, 26, 28, 40, 56 और 62 पर अंकित शंकर कृत कार्टून के लिए चिल्ड्रंस बुक ट्रस्ट का; पृष्ठ 90, 95, 98 और 157 पर अंकित कुट्टी कृत कार्टून के लिए लाफिंग विद कुट्टी, फ्री प्रेस का; पृष्ठ 52 और 144 पर अंकित कार्टून के लिए सुधीर दर, सुधीर तैलंग और यूएनडीपी तथा प्लानिंग कमीशन का; पृष्ठ 103 पर अंकित अबु कृत कार्टून के लिए जानकी अब्राहम का; 122 पर अंकित अतनु राय कृत कार्टून के लिए इंडिया टुडे का; 192 पर अंकित कार्टून के लिए रवि शंकर का; 172 और 178 पर अंकित कार्टून के लिए अजीत नैनन का; पृष्ठ 166 पर अंकित रामबाबू माथुर कृत कार्टून और पृष्ठ 176 पर अंकित सुधीर तैलंग कृत कार्टून के लिए एचटी बुक्स ऑफ कार्टून का हम आभार व्यक्त करते हैं।

तस्वीर

पृष्ठ 2 और 13 पर अंकित तस्वीर के लिए सुनील जना का; पृष्ठ 7, 33, 136, 138 और 152 पर अंकित तस्वीर के लिए 'द हिन्दू' का; डीपीए/पीआईबी का पृष्ठ 9 और 17 पर अंकित कार्टून के लिए; पृष्ठ 49, 120, 128, 134 और कवर पृष्ठ पर अंकित कोलॉन्ज के लिए हिन्दुस्तान टाइम्स का; पृष्ठ 3, 10 और 64 पर अंकित तस्वीर के लिए नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी का; पृष्ठ 6, 7, 42 और 69 पर अंकित होमी वेयरवाला की तस्वीरों के लिए सबीना गडीहोक का; पृष्ठ 139 पर अंकित तस्वीर के लिए इंडिया टुडे का; पृष्ठ 86 और 166 पर अंकित तस्वीर के लिए रघु राय का, पृष्ठ 55 पर अंकित तस्वीर के लिए कुमारपा इंस्टीट्यूट ऑफ ग्राम स्वराज का; पृष्ठ 144 पर अंकित तस्वीर के लिए पंकज पुष्कर का; पृष्ठ 43 पर अंकित तस्वीर के लिए रॉबिन शॉ पुष्प/राजकमल का; पृष्ठ 141 पर अंकित तस्वीर के लिए नर्मदा बचाओ आंदोलन का तथा बैककवर पर अंकित तस्वीर के लिए आऊटलुक क्लासिक और www.thesouthasian.org का हम आभार व्यक्त करते हैं।

अखबार की कतरन

पृष्ठ 4, 51, 59, 69, 75, 77, 83, 95, 111, 154, 166, 181, 185 और 187 पर अंकित कतरनों (सभी 'हिस्ट्री इन द मेकिंग: 75 ईर्यस ऑफ द हिन्दुस्तान टाइम्स' से) के लिए 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' का; पृष्ठ 7, 75, 77, 110, 153, 156, 160, 161, 164 और 169 पर



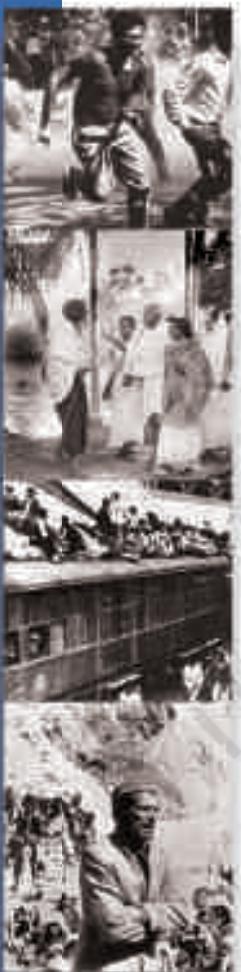
अंकित कतरनों के लिए टाइम्स ऑफ इंडिया का; पृष्ठ 32 और 33 पर अंकित कतरन तथा पृष्ठ 47 पर अंकित ख़बर के लिए 'द हिन्दू' का; पृष्ठ 33, 71, 102, 110, 111, 159, 166 और 181 पर अंकित कतरन के लिए नई दुनिया का; पृष्ठ 186 पर अंकित कतरन के लिए 'द पायेनियर' का; पृष्ठ 188 पर अंकित कतरन के लिए 'द इंडियन एक्सप्रेस' का हम आभार व्यक्त करते हैं।

पोस्टर/विज्ञापन

पृष्ठ 61, 71, 91, 111, 166, 173, 174 और 175 पर अंकित 'अमूल' के विज्ञापन के लिए जीसीएम एमएफ इंडिया का; पृष्ठ 131 और 140 पर अंकित पोस्टर के लिए डिज़ाइन एंड पी' पल का; पृष्ठ 133 पर अंकित पोस्टर के लिए अनहद/एनसीडीएचआर का; पृष्ठ 137 पर अंकित पोस्टर के लिए जुबान का; 148 पर अंकित पोस्टर के लिए उत्तरांगड़ सांस्कृतिक मोर्चा का हम आभार व्यक्त करते हैं।

पाठांश, रिपोर्ट-अंश और पुस्तक

पृष्ठ 153, 179, 172, 417, 501 और 496 पर अंकित उद्धरण के लिए पहले आम चुनाव से संबंधित पीठासीन पदाधिकारी के कथ्य, इस चुनाव से संबद्ध अखबार और पत्रिकाओं के पाठांश तथा 'द गार्जियन' के अंश के लिए पैन मैक्रिमलन एंड पिकाडोर इंडिया (2007) से प्रकाशित रामचंद्र गुहा कृत 'इंडिया आफ्टर गाँधी' का; फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविता 'सुबह-ए-आज़ादी' के लिए राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित 'प्रतिनिधि कविताएँ' (1991) का; अमृता प्रीतम की कविता के लिए भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'प्रतिनिधि संकलन' (1994) का; सआदत हसन मंटो की लघुकथा के लिए राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित मंटो की समग्र रचनावली का; फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'मैला आँचल' और श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' के अंश के लिए राजकमल प्रकाशन का; नामदेव ढ़साल की मराठी कविता के अंग्रेजी अनुवाद [अनुवाद-जयंत कर्वे एवं एलनोर जेलिएट; मुल्क राज आनंद और एलनोर जेलिएट (संपादित); एन एंथोलॉजी ऑफ दिलित लिटरेचर; नई दिल्ली, ज्ञान बुक्स, 1992] को हिन्दी में रूपान्तरित करने के लिए चंदन श्रीवास्तव का; रजनी कोठारी कृत 'पॉलिटिक्स इन इंडिया' के अंश के लिए ओरियंट एंड लॉनामैन (तीसरा संस्करण, दिल्ली) का; पार्थो चटर्जी द्वारा संपादित 'स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया' से उद्धत रजनी कोठारी (पृ-446) तथा डेविड बटलर, अशोक लाहिड़ी, प्रणव राय (पृ-448) अंश के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली का हम आभार व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार सूचना प्रसारण मंत्रालय (भारत सरकार) के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित 'जवाहर लाल नेहरू 'स्पीचेज' सितंबर 1957-अप्रैल 1961, खंड-4 का; फ्रैंकिन आर. फ्रैंकल कृत 'इंडिया पॉलिटिकल इकॉनामी (1947-2004)' के अंश के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस का; जोया हसन कृत पार्टीज एंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया' (पृ-33-34) के अंश के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (2004) दिल्ली का; ए.एम. शाह द्वारा संपादित 'द ग्रासरूट ऑफ डेमोक्रेसी' में संकलित आनंद चक्रवर्ती कृत 'अ विलेज इन चोमू असेंबली कांस्टीट्यूएन्सी इन राजस्थान' के अंश के लिए परमानेन्ट ब्लैक, दिल्ली (2007) का हम आभार व्यक्त करते हैं। न्यायमूर्ति नानावती जाँच आयोग की रिपोर्ट, खंड-1, 2005, पृष्ठ 180; राष्ट्रीय मानवाधि कार आयोग; वार्षिक रिपोर्ट, 2001-2002, पृष्ठ-317-318 और शाह आयोग, अंतरिम रिपोर्ट 96-101, 120-139 के हम आभारी हैं।



विषय सूची

आमुख --- *iii*

पाठकों के नाम एक पत्र --- *v*

अध्याय 1

राष्ट्र-निर्माण की चुनौतियाँ

2



अध्याय 2

एक दल के प्रभुत्व का दौर

26

अध्याय 3

नियोजित विकास की राजनीति

46

अध्याय 4

भारत के विदेश संबंध

64

अध्याय 5

कांग्रेस प्रणाली : चुनौतियाँ और पुनर्स्थापना

82

अध्याय 6

लोकतांत्रिक व्यवस्था का संकट

102

अध्याय 7

जन आंदोलनों का उदय

128

अध्याय 8

क्षेत्रीय आकांक्षाएँ

148

अध्याय 9

भारतीय राजनीति : नए बदलाव

172



कलकत्ता, 1947 :
दंगा प्रभावित क्षेत्रों में शांति स्थापित करने के लिए हिंदू और मुस्लिम समुदाय के लोग, भारत और पाकिस्तान का झांडा फहराते हुए। शहर में गश्त कर रहे ट्रकों पर चढ़े इन लोगों का यह चित्र विभाजन की खुशी और त्रासदी, दोनों को एक साथ बयान करता है।

इस अध्याय में...

आजाद हिंदुस्तान के शुरुआती कुछ साल चुनौतियों से भरे थे। सबसे बड़ी चुनौती राष्ट्रीय एकता और अखंडता की थी। आजाद हिंदुस्तान राजनीति के इतिहास की इस चर्चा की शुरुआत हम इन्हीं चुनौतियों के जिक्र से करेंगे। इस अध्याय में हम देखेंगे कि कैसे 1947 के बाद के पहले दशक में राष्ट्र-निर्माण की चुनौती से सफलतापूर्वक निपटा गया:

- आजादी मिली लेकिन देश का बँटवारा भी हुआ। बँटवारे के कारण बड़े पैमाने पर हिंसा हुई; लोग विस्थापित हुए। इस घटना से धर्मनिरपेक्ष भारत की धारणा पर ही आँच आने लगी थी।
 - देसी रियासतों को भारत संघ में शामिल करने का मसला तुरंत हल करना जरूरी था।
 - देश के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों की भाषाएँ अलग-अलग थीं। लोगों की आकांक्षाओं का ख्याल रखते हुए देश की अंदरूनी सीमा-रेखाएँ फिर से तय करनी थीं।
- अगले दो अध्यायों में हम दूसरी चुनौतियों की भी चर्चा करेंगे। शुरुआती दौर में देश को इन चुनौतियों से निपटना पड़ा था।



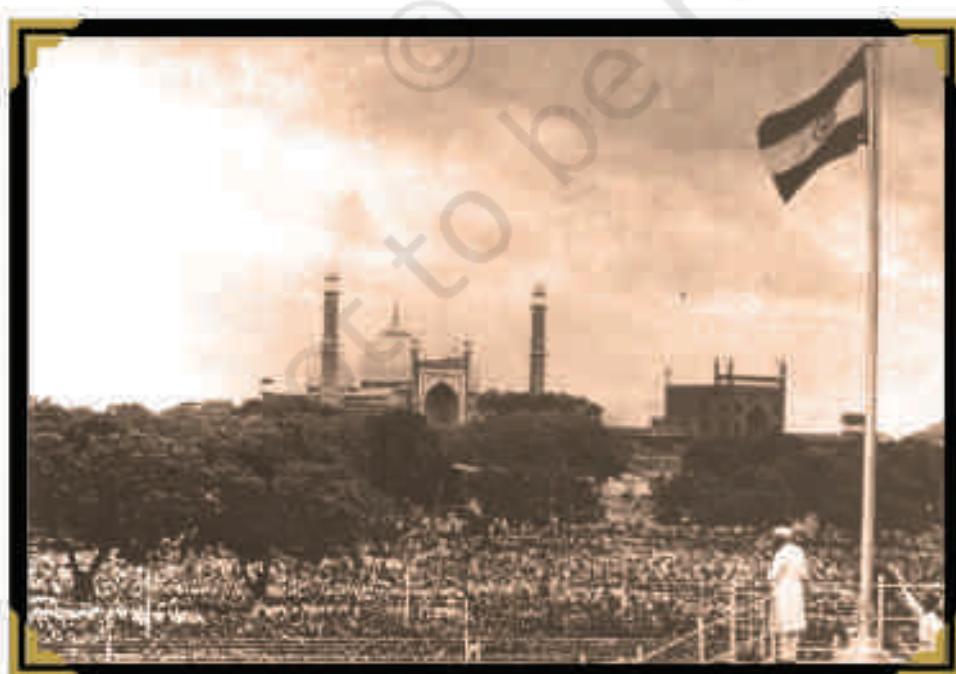
राष्ट्र-निर्माण की चुनौतियाँ

नए राष्ट्र की चुनौतियाँ

सन् 1947 के 14-15 अगस्त की मध्यरात्रि को हिंदुस्तान आजाद हुआ। स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने इस रात संविधान सभा के एक विशेष सत्र को संबोधित किया था। उनका यह प्रसिद्ध भाषण 'भाग्यवधू से चिर-प्रतीक्षित भेंट' या 'ट्रिस्ट विद् डेस्टिनी' के नाम से जाना गया।

हिंदुस्तान की जनता इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी। आपने इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा है कि हमारी आजादी की लड़ाई में कई आवाजें बुलंद थीं। बहरहाल, दो बातों पर सबकी सहमति थी—पहली बात यह कि आजादी के बाद देश का शासन लोकतांत्रिक सरकार के जरिए चलाया जाएगा और दूसरी यह कि सरकार सबके भले के लिए काम करेगी। इस शासन में गरीबों और कमज़ोरों का खास ख्याल रखा जाएगा। देश अब आजाद हो चुका था और आजादी से जुड़े इन सपनों को साकार करने का वक्त आ गया था।

यह कोई आसान काम नहीं था। आजाद हिंदुस्तान का जन्म कठिन परिस्थितियों में हुआ। हिंदुस्तान सन् 1947 में जिन हालात के बीच आजाद हुआ, शायद उस वक्त तक कोई भी मुल्क वैसे हालात में आजाद नहीं हुआ था। आजादी मिली लेकिन देश के बँटवारे के साथ। सन् 1947 का साल अभूतपूर्व हिंसा और विस्थापन की त्रासदी का साल था। आजाद हिंदुस्तान को इन्हीं परिस्थितियों में अपने बहुविध लक्ष्यों को हासिल करने की यात्रा शुरू करनी पड़ी। आजादी के उन उथल-पुथल भरे दिनों में हमारे नेताओं का ध्यान इस बात से नहीं भटका कि यह नया राष्ट्र चुनौतियों की चपेट में है।



प्रधानमंत्री : जवाहरलाल नेहरू

15 अगस्त, 1947 : लाल
किले की प्राचीर से भाषण देते
प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू



हिन्दुस्तान टाइम्स, 15 अगस्त, 1947

तीन चुनौतियाँ

मुख्य तौर पर भारत के सामने तीन तरह की चुनौतियाँ थीं। पहली और तात्कालिक चुनौती एकता के सूत्र में बँधे एक ऐसे भारत को गढ़ने की थी जिसमें भारतीय समाज की सारी विविधताओं के लिए जगह हो। भारत अपने आकार और विविधता में किसी महादेश के बराबर था। यहाँ अलग-अलग बोली बोलने वाले लोग थे, उनकी संस्कृति अलग थी और वे अलग-अलग धर्मों के अनुयायी थे। उस वक्त आमतौर पर यही माना जा रहा था कि इतनी विविधताओं से भरा कोई देश ज्यादा दिनों तक एकजुट नहीं रह सकता। देश के विभाजन के साथ लोगों के मन में समाई यह आशंका एक तरह से सच साकित हुई थी। भारत के भविष्य को लेकर गंभीर सवाल खड़े थे : क्या भारत एक रह पाएगा? क्या ऐसा करने के लिए भारत सिफ़र राष्ट्रीय एकता की बात पर सबसे ज्यादा ज़ोर देगा और बाकी उद्देश्यों को तिलांजलि दे देगा? क्या ऐसे में हर क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय पहचान को खारिज कर दिया जाएगा? उस वक्त का सबसे तीखा और चुभता हुआ एक सवाल यह भी था कि भारत की क्षेत्रीय अखंडता को कैसे हासिल किया जाए?

दूसरी चुनौती लोकतंत्र को कायम करने की थी। आप भारतीय संविधान के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। आप जानते हैं कि संविधान में मौलिक अधिकारों की गारंटी दी गई है और हर नागरिक को मतदान का अधिकार दिया गया है। भारत ने संसदीय शासन पर आधारित प्रतिनिधित्वमूलक लोकतंत्र को अपनाया। इन विशेषताओं से यह बात सुनिश्चित हो गई कि

“
कल हम अंग्रेजी-राज की गुलामी से आज्ञाद हो जाएँगे लोकिन आधी रात को भारत का बँटवारा भी होगा। इसलिए कल का दिन हमारे लिए खुशी का दिन होगा और गम का भी।
”

महात्मा गांधी
14 अगस्त 1947
कलकत्ता

लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर राजनीतिक मुकाबले होंगे। लोकतंत्र को कायम करने के लिए लोकतांत्रिक संविधान जरूरी होता है लेकिन इतना भर ही काफ़ी नहीं होता। चुनौती यह भी थी कि संविधान से मेल खाते लोकतांत्रिक व्यवहार-बरताव चलन में आएँ।

तीसरी चुनौती थी ऐसे विकास की जिससे समूचे समाज का भला होता हो न कि कुछ एक तबकों का। इस मोर्चे पर भी संविधान में यह बात साफ़ कर दी गई थी कि सबके साथ समानता का बरताव किया जाए और सामाजिक रूप से वंचित तबकों तथा धार्मिक-सांस्कृतिक अल्पसंख्यक समुदायों को विशेष सुरक्षा दी जाए। संविधान ने 'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों' के अंतर्गत लोक-कल्याण के उन लक्ष्यों को भी स्पष्ट कर दिया था जिन्हें राजनीति को जरूर पूरा करना चाहिए। अब असली चुनौती आर्थिक विकास तथा गरीबी के खात्मे के लिए कारगर नीतियों को तैयार करने की थी।

आजाद हिंदुस्तान ने इन चुनौतियों के आगे क्या रुख अपनाया? संविधान में तय किए गए विभिन्न लक्ष्यों को हासिल करने की दिशा में कहाँ तक सफलता मिली? इस पूरी किताब में इन्हीं सवालों को खँगालने की कोशिश की गई है। इस किताब में आजादी के बाद के दौर की भारतीय राजनीति की कथा लिखी गई है ताकि आप खुद इन जैसे बड़े सवालों के अपने उत्तर तलाश पाने के काबिल हो सकें। शुरुआत के तीन अध्यायों में हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि ऊपर जिन तीन चुनौतियों का जिक्र किया गया है उनका आजादी के बाद शुरुआती सालों में कैसे सामना किया गया।

आजादी के तुरंत बाद राष्ट्र-निर्माण की चुनौती सबसे प्रमुख थी। इस पहले अध्याय में हम इसी चुनौती पर ध्यान केंद्रित करेंगे। शुरुआत में उन घटनाओं की चर्चा की जाएगी जिन्होंने आजादी को एक संदर्भ प्रदान किया। इससे हमें यह समझने में मदद मिलेगी कि आजादी के समय राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा का सवाल सबसे प्रमुख चुनौती के रूप में क्यों उभरा। इसके बाद हम यह देखेंगे कि भारत ने एक राष्ट्र के रूप में अपने को किस तरह एक साझे इतिहास तथा साझी नियति के फ़लक पर गढ़ा। अगले दो अध्यायों में हम लोकतंत्र कायम करने और बराबरी तथा इंसाफ पर आधारित आर्थिक-विकास हासिल करने की चुनौतियों पर विचार करेंगे।



मेरे मन में हमेशा यह
इच्छा रही कि एक
टाइम-मशीन मिल जाए
तो मैं थोड़ा पीछे लौटूँ
और 15 अगस्त, 1947
के जश्न में शिरकत
करूँ। लेकिन, यहाँ तो
मामला कुछ अलग ही
नज़र आ रहा है।



यहाँ प्रदर्शित तीन डाक-टिकटों को प्रथम गणतंत्र दिवस, 26 जनवरी 1950, के अवसर पर जारी किया गया था। इन टिकटों पर छपे चित्र से आपको नए गणतंत्र के सामने खड़ी किन-किन चुनौतियों के बारे में जानकारी मिलती है? अगर आपको 1950 में इन डाक-टिकटों का डिज़ाइन तैयार करने के लिए कहा जाता तो आप इन टिकटों पर किस तरह के चित्र उकेरते?

SPREADING ABOUT
TAKIF-UL-QURAN
can be made at the following
address—
Publisher, MAANIF-UL-QURAN,
C/o Mr. PARVEZ,
HOME DEPARTMENT
GOVERNMENT OF PAKISTAN
KARACHI

AED-E-AZAM'S TRIBUTE

**Absolute Transfer Of Power
Unknown In World History**

**PAKISTAN TO MAINTAIN FRIENDSHIP
WITH BRITAIN AND HINDUSTAN**

**MNAH'S SPEECH AT STATE DINNER
TO LORD & LADY MOUNTBATTEN**

Dawn

Founded By QUADIR-UL-QURAN MURSHID
Edited by ALI JINNAH

WHILE IN KARACHI
VISIT
MANCHESTER HOUSE
TAILORS

The Authority on Style & Clothes
(Sherwani Specialists)

Phone: 1331
ELPHINSTONE STREET
KARACHI

TO BRITISH PEOPLE



मुझ-ए-आज्ञादी

- फैज़ अहमद फैज़

ये दागा-दागा उजाला, ये शब-गज़ीदा सहर¹
वो इंतज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं कि जिसकी आरजू लेकर
चले थे यार कि; मिल जाएँगी कहीं ना कहीं
फ़्लक² के दस्त में तारों की आखिरी मंज़िल
कहीं तो होगा शब-ए-सुस्त मौज का साहिल
कहीं तो जाके रुकेगा सफीन-ए-ग़ाम-ए-दिल³

1. अंधियारी सुबह, 2. आकाश, 3. दिल के ग़ाम की नाव

फैज़ अहमद फैज़ (1911-1984) सियालकोट में जन्म; विभाजन के बाद पाकिस्तान में ही रहे। वामपंथी रुझान के कारण उनका पाकिस्तानी शासन तंत्र से हमेशा टकराव बना रहा। लंबा समय कारावास में गुजरा। 'नवशे फ़रियादी', 'दस्त-ए-सबा' तथा 'जिंदनामा' उनके प्रमुख कविता संग्रह हैं। बीसवीं शताब्दी के दक्षिण एशियाई कवियों में फैज़ बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं।



हमें बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों की इन जटिलताओं को दूर करने की भावना से काम करना चाहिए। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक-दोनों ही समुदायों में तरह-तरह के लोग शामिल हैं। अगर मुसलमान पठान, पंजाबी, शिया और सुन्नी आदि में बैठे हैं तो हिंदू भी ब्राह्मण, वैष्णव, खत्री तथा बांगली, मद्रासी आदि समुदायों में...। पाकिस्तान में आप आज़ाद हैं, आप अपने मंदिर में जाने के लिए आज़ाद हैं, आप अपनी मस्जिद में जाने या किसी भी अन्य पूजास्थल पर जाने के लिए आज़ाद हैं। आपके धर्म, आपकी जाति या विश्वास से राज्य को कुछ लेना-देना नहीं है।

- 11 अगस्त, 1947 को कराची में, पाकिस्तान की संविधान सभा में अध्यक्षीय भाषण देते हुए
मुहम्मद अली ज़िना



वारिस शाह से!

आज वारिस शाह से कहती है—अपनी कब्र में से बोलो।
और इश्क की किताब का कोई नया वर्क खोलो!
पंजाब की एक बेटी रोई थी, तू ने उस की लंबी दास्तान लिखी,
आज लाखों बेटियाँ रो रही हैं वारिस शाह! तुम से कह रही हैं:
ऐ दर्दमंदों के दोस्त, पंजाब की हालत देखो
चौपाल लाशों से अटा पड़ा है, चनाब लहू से भर गया है
किसी ने पाँचों दरियाओं में ज़हर मिला दिया है
और यही पानी धरती को सींचने लगा है
इस ज़रखेज़ धरती से ज़हर फूट निकला है
देखो, सुर्खी कहाँ तक आ पहुँची! और क़हर कहाँ तक आ पहुँचा!
फिर ज़हरीली हवा बन-ज़ंगलों में चलने लगी
उसने हर बाँस की बाँसुरी जैसे एक नाग बना दी...

अमृता प्रीतम: चुनी हुई कविताएँ (1991 चौथा संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ)

अमृता प्रीतम (1919-2005) : पंजाबी भाषा की प्रमुख कवयित्री और कथाकार, साहित्यिक उपलब्धियों के लिए साहित्य अकादमी, पदमश्री और ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित। विभाजन के बाद दिल्ली में निवास। जीवन के अंतिम समय तक पंजाबी की साहित्यिक पत्रिका 'नागमणि' का संपादन।



भारत में मुसलमान अल्पसंख्यकों की तादाद इतनी ज्यादा है कि वे चाहें तब भी यहाँ से कहीं और नहीं जा सकते। यह एक बुनियादी तथ्य है और इस पर कोई अँगूली नहीं उठाइ जा सकती। पाकिस्तान चाहे जितना उकसावा दे या वहाँ के गैर-मुस्लिमों को अपमान और भय के चाहे जितने भी घृंट पीने पढ़े, हमें अपने अल्पसंख्यकों के साथ सभ्यता और शालीनता के साथ पेश आना है। लोकतात्रिक शासन-व्यवस्था में हमें उन्हें नागरिक के अधिकार देने होंगे और उनकी रक्षा करनी होगी। अगर हम ऐसा करने में कामयाब नहीं होते तो यह एक नासूर बन जाएगा जो पूरी राज-व्यवस्था में ज़हर फैलाएगा और शायद उसको तबाह भी कर दे।

- जवाहरलाल नेहरू, मुख्यमंत्रियों को एक पत्र में, 15 अक्टूबर 1947

विभाजन : विस्थापन और पुनर्वास

14-15 अगस्त 1947 को एक नहीं बल्कि दो राष्ट्र—भारत और पाकिस्तान—अस्तित्व में आए। ऐसा ‘विभाजन’ के कारण हुआ; ब्रिटिश इंडिया को ‘भारत’ और ‘पाकिस्तान’ के रूप में बाँट दिया गया। आपने इतिहास की पाद्यपुस्तकों में उस राजनीतिक घटनाक्रम के बारे में पढ़ा है जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के भू-भाग को रेखांकित करते हुए सीमा-रेखा खींच दी गई। मुस्लिम लीग ने ‘द्वि-राष्ट्र सिद्धांत’ की बात की थी। इस सिद्धांत के अनुसार भारत किसी एक कौम का नहीं बल्कि ‘हिंदू’ और ‘मुसलमान’ नाम की दो कौमों का देश था और इसी कारण मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए एक अलग देश यानी पाकिस्तान की माँग की। कांग्रेस ने ‘द्वि-राष्ट्र सिद्धांत’ तथा पाकिस्तान की माँग का विरोध किया। बहरहाल, सन् 1940 के दशक में राजनीतिक मोर्चे पर कई बदलाव आए; कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तथा ब्रिटिश-शासन की भूमिका जैसी कई बातों का ज्ञार रहा। नतीजतन, पाकिस्तान की माँग मान ली गई।

विभाजन की प्रक्रिया

फैसला हुआ कि अब तक जिस भू-भाग को ‘इंडिया’ के नाम से जाना जाता था उसे ‘भारत’ और ‘पाकिस्तान’ नाम के दो देशों के बीच बाँट दिया जाएगा। यह विभाजन दर्दनाक तो था ही, इस पर फैसला करना और अमल में लाना और भी कठिन था। तय किया गया कि धार्मिक बहुसंख्या को विभाजन का आधार बनाया जाएगा। इसके मायने यह थे कि जिन इलाकों में मुसलमान बहुसंख्यक थे वे इलाके ‘पाकिस्तान’ के भू-भाग होंगे और शेष हिस्से ‘भारत’ कहलाएँगे।

यह बात थोड़ी आसान जान पड़ती है लेकिन असल में इसमें कई किस्म की दिक्कतें थीं। पहली बात तो यह कि ‘ब्रिटिश इंडिया’ में कोई एक भी इलाका ऐसा नहीं था जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक हों। ऐसे दो इलाके थे जहाँ मुसलमानों की आबादी ज्यादा थी। एक इलाका पश्चिम में था तो दूसरा इलाका पूर्व में ऐसा कोई तरीका न था कि इन दोनों इलाकों को जोड़कर एक जगह कर दिया जाए। इसे देखते हुए फैसला हुआ कि पाकिस्तान में दो इलाके शामिल होंगे यानी पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान तथा इनके बीच में भारतीय भू-भाग का एक बड़ा विस्तार रहेगा। दूसरी बात यह कि मुस्लिम-बहुल हर इलाका पाकिस्तान में जाने को राजी हो, ऐसा भी नहीं था। खान अब्दुल गफकार खान पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के निर्विवाद नेता थे। उनकी प्रसिद्धि ‘सीमांत गाँधी’ के रूप में थी और वे ‘द्वि-राष्ट्र सिद्धांत’ के एकदम खिलाफ़ थे। संयोग से, उनकी आवाज़ की अनदेखी की गई और ‘पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत’ को पाकिस्तान में शामिल मान लिया गया।



अच्छा। तो मुझे अब पता चला कि पहले जिसे ‘पूर्वी’ बंगाल कहा जाता था वही आज का बांग्लादेश है। तो क्या यही कारण है कि हमारे बाले बंगाल को ‘पश्चिमी’ बंगाल कहा जाता है।

तीसरी समस्या और भी विकट थी। ‘ब्रिटिश-इंडिया’ के मुस्लिम-बहुल प्रांत पंजाब और बंगाल में अनेक हिस्से बहुसंख्यक गैर-मुस्लिम आबादी वाले थे। ऐसे में फैसला हुआ कि इन दोनों प्रांतों में भी बाँटवारा धार्मिक बहुसंख्यकों के आधार पर होगा और इसमें जिले अथवा उससे निचले स्तर के प्रशासनिक हलके को आधार माना जाएगा। 14-15 अगस्त 1947 की मध्यरात्रि तक यह फैसला नहीं हो पाया था। इसका मतलब यह हुआ कि आज्ञादी के दिन तक अनेक लोगों को यह पता नहीं था कि वे भारत में हैं या पाकिस्तान में। पंजाब और बंगाल का बाँटवारा विभाजन की सबसे बड़ी त्रासदी साबित हुआ।

इसी समस्या से जुड़ी हुई चौथी और विभाजन की सबसे अबूझ कठिनाई ‘अल्पसंख्यकों’ की थी। सीमा के दोनों तरफ ‘अल्पसंख्यक’ थे। जो इलाके अब पाकिस्तान में हैं वहाँ लाखों की संख्या में हिंदू और सिख आबादी थी। ठीक इसी तरह पंजाब और बंगाल के भारतीय भू-भाग में भी लाखों की संख्या में मुस्लिम आबादी थी। दिल्ली और उसके आस-पास के इलाकों में भी मुसलमानों की एक बड़ी आबादी थी। ये सब लोग एक तरह से साँसत में थे। इन लोगों ने पाया कि हम तो अपने ही घर में विदेशी बन गए। जिस जमीन पर वे और उनके पुरखे सदियों से आबाद रहे उसी जमीन पर वे ‘विदेशी’ बन गए थे। जैसे ही यह बात साफ़ हुई कि देश का बँटवारा होने वाला है वैसे ही दोनों तरफ के अल्पसंख्यकों पर हमले होने लगे। कोई भी इस बात का अनुमान नहीं लगा सका था कि यह समस्या विकट रूप धारण करने जा रही है। इस कठिनाई से उबरने के लिए किसी के पास कोई योजना भी नहीं थी। शुरू-शुरू में लोग-बाग और नेता यही मानकर चल रहे थे कि हिंसा की घटनाएँ अस्थाई हैं और जल्दी ही इनको काबू में कर लिया जाएगा। लेकिन, बड़ी जल्दी हिंसा नियंत्रण से बाहर हो गई। दोनों तरफ के अल्पसंख्यकों के पास एकमात्र रास्ता यही बचा था कि वे अपने-अपने घरों को छोड़ दें। कई बार तो उन्हें ऐसा चंद घंटों की मोहल्त के भीतर करना पड़ा।

विभाजन के परिणाम

सन् 1947 में बड़े पैमाने पर एक जगह की आबादी दूसरी जगह जाने को मज़बूर हुई थी। आबादी का यह स्थानांतरण आकस्मिक, अनियोजित और त्रासदी से भरा था। मानव-इतिहास के अब तक ज्ञात सबसे बड़े स्थानांतरणों में से यह एक था। धर्म के नाम पर एक समुदाय

संग्रहालय : डॉ. पी. ए.



शरणार्थियों से भरी एक ट्रेन, 1947

मेहमाननवाजी में कसर

दंगाइयों ने चलती ट्रेन को रोक लिया। गैर-मज़हब के लोगों को खींच-खींच के निकाला और तलवार तथा गोली से मौत के घाट उतार दिया।

बाकी यात्रियों को हलवा, फल और दूध दिया गया। आयोजकों के मुखिया ने कहा— “बहनो-भाइयो! ट्रेन के आने की खबर देर से मिली। इसी कारण हम आपका स्वागत पुरज़ोर तरीके से नहीं कर सके—जैसा कि आप सब चाहते होंगे।”

— सआदत हसन मंटो

मंटो की कहानी कझ-ए-नफ्सी के हिंदी रूपांतर से लिया गया एक अंश।

के लोगों ने दूसरे समुदाय के लोगों को बेरहमी से मारा। लाहौर, अमृतसर और कलकत्ता जैसे शहर सांप्रदायिक अखाड़े में तब्दील हो गए। जिन इलाकों में ज्यादातर हिंदू अथवा सिख आबादी थी, उन इलाकों में मुसलमानों ने जाना छोड़ दिया। ठीक इसी तरह मुस्लिम-बहुल आबादी वाले इलाकों से हिंदू और सिख भी नहीं गुजरते थे।

लोग अपना घर-बार छोड़ने के लिए मजबूर हुए। वे सीमा के एक तरफ से दूसरी तरफ गए और इस क्रम में लोगों को बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। दोनों ही तरफ के अल्पसंख्यक अपने घरों से भाग खड़े हुए और अकसर अस्थाई तौर पर उन्हें शरणार्थी शिविरों में पनाह लेनी पड़ी। कल तक जो लोगों का अपना वतन हुआ करता था, वहीं की पुलिस अथवा स्थानीय प्रशासन अब इन लोगों के साथ रुखाई का बरताव कर रहा था। लोगों को सीमा के दूसरी तरफ जाना पड़ा और ऐसा उन्हें हर हाल में करना था। अकसर लोगों ने पैदल चलकर यह दूरी तय की। सीमा के दोनों ओर हजारों की तादाद में औरतों को अगवा कर लिया गया। उन्हें जबरन शादी करनी पड़ी और अगवा करने वाले का धर्म भी अपनाना पड़ा। कई मामलों में यह भी हुआ कि खुद परिवार के लोगों ने अपने ‘कुल की इज्जत’ बचाने के नाम पर घर की बहू-बेटियों को मार डाला। बहुत-से बच्चे अपने माँ-बाप से बिछड़ गए। जो लोग सीमा पार करने में किसी तरह सफल रहे उन्होंने पाया कि अब वे बेटिकाना हो गए हैं। इन लाखों शरणार्थियों के लिए देश की आज़ादी का मतलब था महीनों और कभी-कभी सालों तक किसी शरणार्थी शिविर में ज़िंदगी काटना।

भारत और पाकिस्तान के लेखक, कवि तथा फ़िल्म-निर्माताओं ने अपने उपन्यास, लघुकथा, कविता और फ़िल्मों में इस मार-काट की नृशंसता का जिक्र किया; विस्थापन और हिंसा से पैदा दुखों को अभिव्यक्ति दी। विभाजन की विपदा का जिक्र करते हुए रचनाकारों ने अकसर वही जुमला इस्तेमाल किया जो इस विपत्ति को झेलने वाले ‘बँटवारे’ का जिक्र करते हुए करते थे। इन सबों के लिए बँटवारे का मतलब था ‘दिल के दो टुकड़े हो जाना’। ‘विभाजन’ में सिर्फ़ संपदा, देनदारी और

साथराः नेहकृ मेमारिष्यत्प्रयूऽजित्यम् एं लाइब्रेरी



नोआखली (अब बांग्लादेश में) की यात्रा पर गांधी, 1947

परिसंपत्तियों का ही बँटवारा नहीं हुआ। इस 'विभाजन' में दो समुदाय जो अब तक पड़ोसियों की भाँति रहते आ रहे थे, हिंसक अलगाव का शिकार हुए।

वित्तीय संपदा के साथ-साथ टेबुल, कुर्सी, टाईपराइटर और पुलिस के वाद्ययंत्रों तक का बँटवारा हुआ था। सरकारी और रेलवे के कर्मचारियों का भी बँटवारा हुआ। अब तक साथ-साथ रहते आए दो समुदायों का यह एक हिंसक और भयावह विभाजन था। अनुमान किया जाता है कि विभाजन के कारण 80 लाख लोगों को अपना घर-बार छोड़कर सीमा-पार जाना पड़ा। विभाजन की हिंसा में तकरीबन पाँच से दस लाख लोगों ने अपनी जान गँवाई।

प्रशासनिक मुश्किल और वित्तीय कठिनाई के अतिरिक्त विभाजन के साथ कुछ और ज्यादा गहरे मुद्दे जुड़े हुए थे। भारत के नेता द्वि-राष्ट्र सिद्धांत में यकीन नहीं करते थे। बहरहाल, विभाजन तो धर्म के आधार पर ही हुआ था। क्या इस वज्रह से भारत अपने-आप एक हिंदू राष्ट्र बन गया? विभाजन के दौरान बड़ी संख्या में मुस्लिम आबादी पाकिस्तान चली गई। इसके बावजूद 1951 के वक्त भारत की कुल आबादी में 12 फीसदी मुसलमान थे। ऐसे में सवाल यह था कि भारत अपने मुसलमान नागरिकों तथा दूसरे धार्मिक अल्पसंख्यकों मसलन सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी और यहूदियों के साथ क्या बरताव करे? बँटवारे के कारण हिंदू और मुसलमानों के बीच तनाव पहले से ही कायम था।

इन संघर्षों के साथ प्रतिस्पर्धी राजनीतिक हित जुड़े थे। मुस्लिम लीग का गठन मुख्य रूप से औपनिवेशिक भारत में मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए हुआ था। मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र की माँग करने के एतबार से अग्रणी थी। ठीक इसी तरह कुछ और संघठन भी थे जो भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने के लिए हिंदुओं को लामबंद करने की कोशिश में लगे थे। बहरहाल, भारत की कौमी सरकार के अधिकतर नेता सभी नागरिकों को समान दर्जा देने के हामी थे चाहे नागरिक किसी भी धर्म का हो। वे भारत को एक ऐसे राष्ट्र के रूप में नहीं देखना चाहते थे जहाँ किसी एक धर्म के अनुयायियों को दूसरे धर्मावलंबियों

—
—
—
—
—

गर्म हवा



सलीम मिर्जा आगरा में रहते हैं और जूते का व्यवसाय करते हैं। विभाजन के बाद सलीम अपने ही लोगों के बीच अजनबी बन जाते हैं। विभाजन के बाद बदले माहौल में सलीम अपने आसपास की दुनिया से संबंध नहीं बिठा पाते। धीरे-धीरे उनका व्यवसाय भी चौपट होने लगता है। देश के दूसरी तरफ से आया एक शरणार्थी परिवार उनके पुरुषैयी मकान पर कब्जा कर लेता है। घटनाओं की इस गहमागहमी में सलीम की बेटी मौत को गले लगा लेती है। लेकिन सलीम फिर भी उम्मीद नहीं छोड़ते। उन्हें यकीन है कि हालात दुबारा सामान्य हो जाएँगे।

सलीम की इस सोच से उनके परिवार वाले ही इत्तेफाक नहीं रखते। परिवार के कई सदस्यों ने पाकिस्तान जाने का फ़ैसला कर लिया है। सलीम पाकिस्तान जाने की विवशता और भारतीय रहने की इच्छा के बीच फ़ैस स गए हैं। कहानी में सलीम के सामने एक निर्णायक क्षण आता है जब वह छात्रों के एक जर्थे को सड़क से गुज़रता हुआ देखते हैं। आंदोलनकारी छात्र, सरकार से बेहतर सुविधाओं की माँग कर रहे हैं। छात्रों के इस जर्थे में सलीम का बेटा सिकंदर भी शामिल है। आपकी राय में मिर्जा सलीम का फ़िल्म के अंत में क्या रुख रहा होगा? ऐसी परिस्थितियों में आप क्या करते?

वर्ष : 1973

निर्देशक : एम.एस. सथ्य

पटकथा : कैफ़ी आजमी

अभिनय : बलराज साहनी, जलाल आगा,
फ़ारुख शेख, गीता सिद्धार्थ

महात्मा गाँधी की शहादत

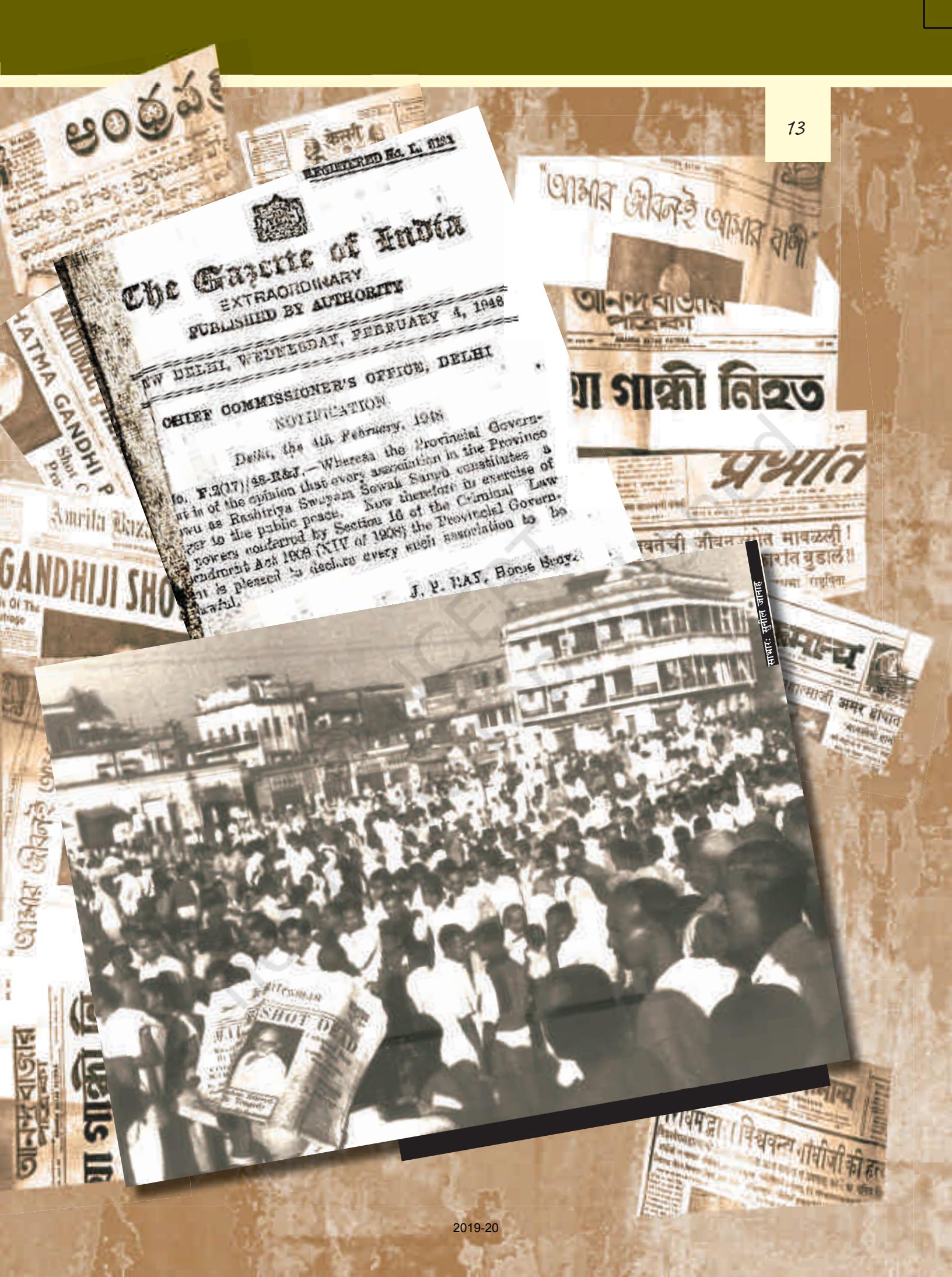
महात्मा गाँधी ने 15 अगस्त, 1947 के दिन आजादी के किसी भी जश्न में भाग नहीं लिया। वे कोलकाता के उन इलाकों में डेरा डाले हुए थे जहाँ हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भयंकर दंगे हुए थे। सांप्रदायिक हिंसा से उनके मन पर गहरी चोट लगी थी। यह देखकर उनका दिल टूट चुका था कि 'अहिंसा' और 'सत्याग्रह' के जिन सिद्धांतों के लिए वे आजीवन समर्पित भाव से काम करते रहे वे ही सिद्धांत इस कठिन घड़ी में लोगों को एकसूत्र में पिरो सकने में नाकामयाब हो गए थे। गाँधीजी ने हिंदुओं और मुसलमानों से ज़ोर देकर कहा कि वे हिंसा का रास्ता छोड़ दें। कोलकाता में गाँधी की मौजूदगी से हालात बड़ी हद तक सुधर चले थे और आजादी का जश्न लोगों ने सांप्रदायिक सद्भाव के जज्बे से मनाया। लोग सड़कों पर पूरे हर्षोल्लास के साथ नाच रहे थे। गाँधी की प्रार्थना-सभा में बड़ी संख्या में लोग जुटते थे। बहरहाल, यह स्थिति ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दंगे एक बार फिर से भड़क उठे और गाँधीजी अमन कायम करने के लिए 'उपवास' पर बैठ गए।

अगले महीने गाँधीजी दिल्ली में भी बड़े पैमाने पर हिंसा हुई थी। गाँधीजी दिल से चाहते थे कि मुसलमानों को भारत में गरिमापूर्ण जीवन मिले और उन्हें बराबर का नागरिक माना जाए। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए वे बड़े चिंतित थे। भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंधों को लेकर भी उनके मन में गहरी चिंताएँ थीं। उन्हें लग रहा था कि भारत की सरकार पाकिस्तान के प्रति अपनी विरोधी वचनबद्धताओं को पूरा नहीं कर रही है। इस बात से वे नाखुश थे। इन सारी बातों को सोचकर उन्होंने 1948 की जनवरी में एक बार फिर 'उपवास' रखना शुरू किया। यह उनका अंतिम 'उपवास' साबित हुआ। कोलकाता की ही तरह दिल्ली में भी उनके 'उपवास' का जादुई असर हुआ। सांप्रदायिक तनाव और हिंसा में कमी हुई। दिल्ली और उसके आस-पास के इलाके के मुसलमान सुरक्षित अपने घरों में लौटे। भारत की सरकार पाकिस्तान को उसका देय चुकाने पर राजी हो गई।

बहरहाल, गाँधीजी के कामों से हर कोई खुश हो, ऐसी बात नहीं थी। हिंदू और मुसलमान दोनों ही समुदायों के अतिवादी अपनी स्थिति के लिए गाँधीजी पर दोष मढ़ रहे थे। जो लोग चाहते थे कि हिंदू बदला लें अथवा भारत भी उसी तरह सिर्फ हिंदुओं का राष्ट्र बने जैसे पाकिस्तान मुसलमानों का राष्ट्र बना था-वे गाँधीजी को खासतौर पर नापसंद करते थे। इन लोगों ने आरोप लगाया कि गाँधीजी मुसलमानों और पाकिस्तान के हित में काम कर रहे हैं। गाँधीजी मानते थे कि ये लोग गुमराह हैं। उन्हें इस बात का पक्का विश्वास था कि भारत को सिर्फ हिंदुओं का देश बनाने की कोशिश की गई तो भारत बर्बाद हो जाएगा। हिंदू-मुस्लिम एकता के उनके अडिग प्रयासों से अतिवादी हिंदू इतने नाराज थे कि उन्होंने कई दफे गाँधीजी को जान से मारने की कोशिश की। इसके बावजूद गाँधीजी ने सशस्त्र सुरक्षा हासिल करने से मना कर दिया और अपनी प्रार्थना-सभा में हर किसी से मिलना जारी रखा। आखिरकार, 30 जनवरी 1948 के दिन ऐसा ही एक हिंदू अतिवादी नाथूराम विनायक गोडसे, गाँधीजी की संध्याकालीन प्रार्थना के समय उनकी तरफ चलता हुआ नज़दीक पहुँच गया। उसने गाँधीजी पर तीन गोलियाँ चलाई और गाँधीजी को तत्क्षण मार दिया। इस तरह न्याय और सहिष्णुता को आजीवन समर्पित एक आत्मा का देहावसान हुआ।

गाँधीजी की मौत का देश के सांप्रदायिक माहौल पर मानो जादुई असर हुआ। विभाजन से जुड़ा क्रोध और हिंसा अचानक ही मंद पड़ गए। भारत सरकार ने सांप्रदायिक हिंसा फैलाने वाले संगठनों की मुश्कें कस दीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों को कुछ दिनों तक प्रतिबंधित कर दिया गया। सांप्रदायिक राजनीति का ज़ोर लोगों में घटने लगा।





के ऊपर वरीयता दी जाए अथवा किसी एक धर्म के विश्वासियों के मुकाबले बाकियों को हीन समझा जाता हो। वे मानते थे कि नागरिक चाहे जिस धर्म को माने, उसका दर्जा बाकी नागरिकों के बराबर ही होना चाहिए। नागरिकता की कसौटी धर्म को नहीं बनाया जाना चाहिए। हमारे नेतागण धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श के हिमायती थे। उनके इस आदर्श की अभिव्यक्ति भारतीय संविधान में हुई।

श्वेता ने गौर किया था कि जब भी कोई पाकिस्तान का जिक्र छेड़ता था तो उसके नाना एकदम चुप हो जाते थे। एक दिन उसने नाना से इसके बारे में पूछने का फैसला किया। उसके नाना ने बताया कि बँटवारे के बजत उन्हें लाहौर से लुधियाना आना पड़ा था। उनके माता-पिता मार दिए गए थे। श्वेता के नाना भी नहीं बच पाते लेकिन खैर यह हुई कि पड़ोस के मुस्लिम परिवार ने उन्हें पनाह दी और कई दिनों तक छुपाकर रखा। इन्हीं पड़ोसियों की मदद से श्वेता के नाना को अपने सगे-संबंधियों का पता-ठिकाना मालूम पड़ा और वे किसी तरह बच-बचा के सीमा पार कर भारत पहुँचे। यहाँ आकर उन्होंने नयी ज़िंदगी शुरू की।

क्या आपने भी ऐसा ही कोई वाकया सुना है। अपने दादा-दादी अथवा इस पीढ़ी के किसी और से पूछिए कि आजादी के दिन क्या हुआ था, कैसे जश्न मनाया गया था, बँटवारे का सदमा कितना गहरा था और देश की आजादी से इन लोगों की क्या अपेक्षाएँ थीं?

कम से कम ऐसे दो वाकयों को लिखिए।

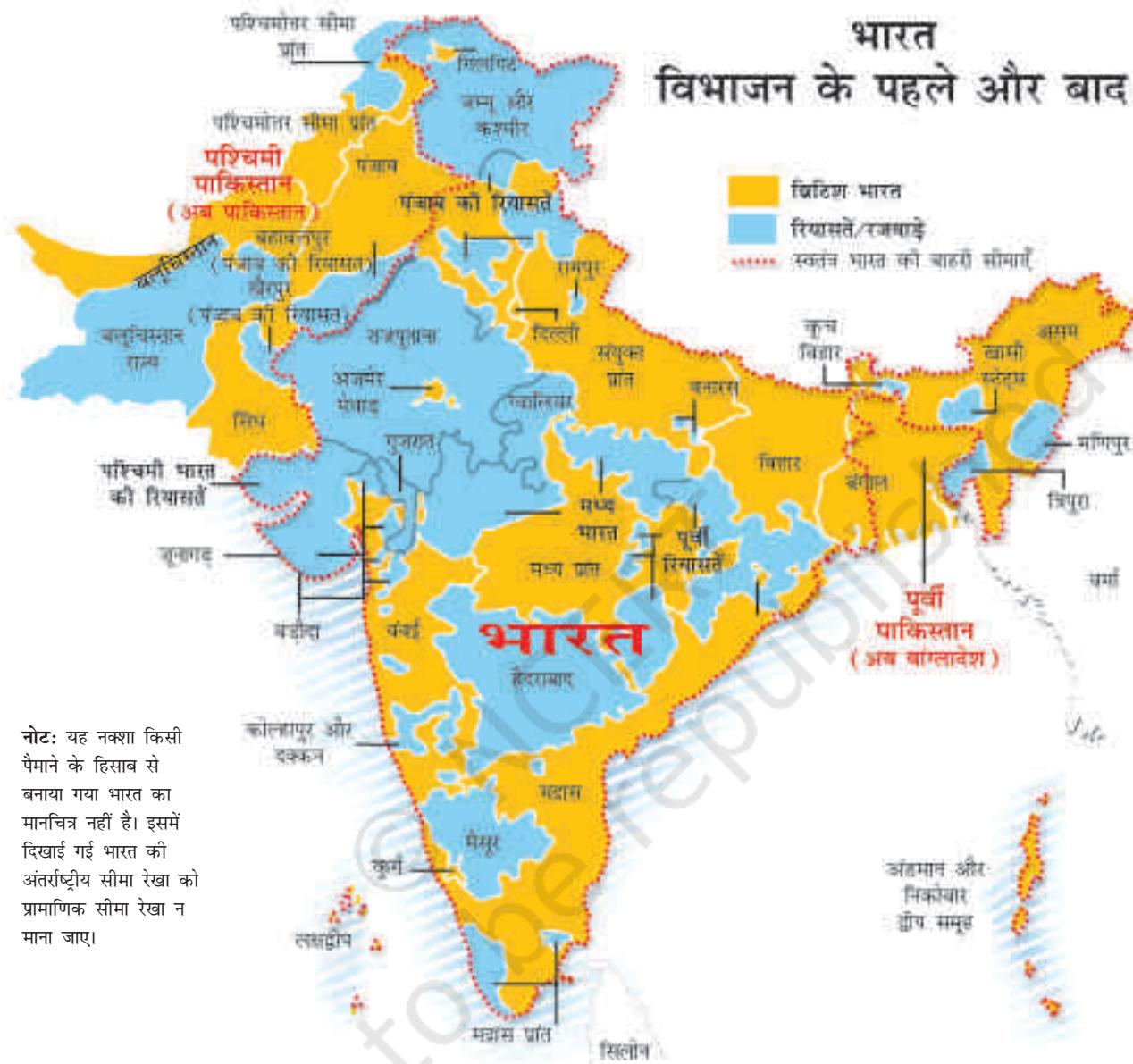
खोज - बीन

रजवाड़ों का विलय

ब्रिटिश इंडिया दो हिस्सों में था। एक हिस्से में ब्रिटिश प्रभुत्व वाले भारतीय प्रांत थे तो दूसरे हिस्से में देसी रजवाड़े। ब्रिटिश प्रभुत्व वाले भारतीय प्रांतों पर अंग्रेजी सरकार का सीधा नियंत्रण था। दूसरी तरफ छोटे-बड़े आकार के कुछ और राज्य थे। इन्हें रजवाड़ा कहा जाता था। रजवाड़ों पर राजाओं का शासन था। राजाओं ने ब्रिटिश-राज की अधीनता या कहें कि सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर रखी थी और इसके अंतर्गत वे अपने राज्य के घरेलू मामलों का शासन चलाते थे। अंग्रेजी प्रभुत्व के अंतर्गत आने वाले भारतीय साम्राज्य के एक-तिहाई हिस्से में रजवाड़े कायम थे। प्रत्येक चार भारतीयों में से एक किसी न किसी रजवाड़े की प्रजा था।

समस्या

आजादी के तुरंत पहले अंग्रेजी-शासन ने घोषणा की कि भारत पर ब्रिटिश-प्रभुत्व के साथ ही रजवाड़े भी ब्रिटिश-अधीनता से आजाद हो जाएँगे। इसका मतलब यह था कि सभी रजवाड़े (रजवाड़ों की संख्या 565 थी) ब्रिटिश-राज की समाप्ति के साथ ही कानूनी तौर पर आजाद हो जाएँगे। अंग्रेजी-राज का नजरिया यह था कि रजवाड़े अपनी मर्जी से चाहें तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हो जाएँ या फिर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाएँ रखें। भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने या स्वतंत्र हैसियत बनाए रखने का फैसला रजवाड़ों की प्रजा को नहीं करना था। यह फैसला लेने का अधिकार राजाओं को दिया गया था। यह अपने आप में बड़ी गंभीर समस्या थी और इससे अखंड भारत के अस्तित्व पर ही खतरा मैंडरा रहा था।



क्या जर्मनी की तरह हम लोग भारत और पाकिस्तान के बाँटवारे को खत्म नहीं कर सकते? मैं तो अमृतसर में नाश्ता और लाहौर में लंच करना चाहता हूँ!



क्या यह बहेतर नहीं होगा कि हम एक-दूसरे को स्वतंत्र राष्ट्र मानकर रहना और सम्मान करना सीख जाएँ?

“

हम भारत के इतिहास के एक यादगार मुकाम पर खड़े हैं। साथ मिलकर चलें तो देश को हम महानता की नयी बुलंदियों तक पहुँचा सकते हैं, जबकि एकता के अभाव में हम अप्रत्याशित विपदाओं के घरे में होंगे। मैं उम्मीद करता हूँ कि भारत की रियासतें इस बात को पूरी तरह से समझेंगी कि अगर हमने सहयोग नहीं किया और सर्व-सामान्य की भलाई में साथ मिलकर कदम नहीं बढ़ाया तो अराजकता और अव्यवस्था हम में से सबको चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, घेर लेगी और हमें बर्बादी की तरफ ले जाएगी...

”

सरदार पटेल
रियासतों के शासकों को एक पत्र में (1947)

समस्या ने जल्दी ही अपने तेवर दिखाने शुरू किए। सबसे पहले त्रावणकोर के राजा ने अपने राज्य को आज्ञाद रखने की घोषणा की। अगले दिन हैदराबाद के निजाम ने ऐसी ही घोषणा की। कुछ शासक मसलन भोपाल के नवाब संविधान-सभा में शामिल नहीं होना चाहते थे। रजवाड़ों के शासकों के रवैये से यह बात साफ़ हो गई कि आजादी के बाद हिंदुस्तान कई छोटे-छोटे देशों की शक्ल में बँट जाने वाला है। लोकतंत्र का भविष्य अंधकारमय जान पड़ रहा था। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का लक्ष्य एकता और आत्मनिर्णय के साथ-साथ लोकतंत्र का रास्ता अखियार करना था। इसे देखते हुए यह स्थिति अपने आप में बड़ी विचित्र थी। अधिकतर रजवाड़ों में शासन अलोकतात्त्विक रीति से चलाया जाता था और रजवाड़ों के शासक अपनी प्रजा को लोकतात्त्विक अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थे।

सरकार का नज़रिया

छोटे-बड़े विभिन्न आकार के देशों में बँट जाने की इस संभावना के विरुद्ध अंतर्रिम सरकार ने कड़ा रुख अपनाया। मुस्लिम लीग ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इस कदम का विरोध किया। लीग का मानना था कि रजवाड़ों को अपनी मनमर्जी का रास्ता चुनने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। रजवाड़ों के शासकों को मनाने-समझाने में सरदार पटेल ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई और अधिकतर रजवाड़ों को उन्होंने भारतीय संघ में शामिल होने के लिए राजी कर लिया। आज यह आसान जान पड़ सकता है लेकिन अपने आप में यह बड़ा जटिल काम था। इसके लिए बड़ी चतुराई और युक्तिपूर्ण पहलकदमी की ज़रूरत थी। मिसाल के तौर पर आज के उड़ीसा में ही तब 26 और छत्तीसगढ़ में 15 छोटे-छोटे रजवाड़े थे। सौराष्ट्र में 14 बड़े और 119 छोटे रजवाड़े और अन्य अनेक प्रशासनिक तंत्र थे।

देसी रजवाड़ों की इस चर्चा से तीन बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि अधिकतर रजवाड़ों के लोग भारतीय संघ में शामिल होना चाहते थे। दूसरी बात यह कि भारत सरकार का रुख लचीला था और वह कुछ इलाकों को स्वायत्तता देने के लिए तैयार थी जैसा कि जमू-कश्मीर में हुआ। भारत सरकार ने विभिन्नताओं को सम्मान देने और विभिन्न क्षेत्रों की माँगों को संतुष्ट करने के लिए यह रुख अपनाया था। तीसरी बात, विभाजन की पृष्ठभूमि में विभिन्न इलाकों के सीमांकन के सवाल पर खींचतान ज़ोर पकड़ रही थी और ऐसे में देश की क्षेत्रीय अखंडता-एकता का सवाल सबसे ज़्यादा अहम हो उठा था।

शांतिपूर्ण बातचीत के ज़रिए लगभग सभी रजवाड़े जिनकी सीमाएँ आज्ञाद हिंदुस्तान की नयी सीमाओं से मिलती थीं, 15 अगस्त 1947 से पहले ही भारतीय संघ में शामिल हो गए। अधिकतर रजवाड़ों के शासकों ने भारतीय संघ में अपने विलय के एक सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर किए। इस सहमति-पत्र को ‘इंस्टूमेंट ऑफ़ एक्सेशन’ कहा जाता है। इस पर हस्ताक्षर का अर्थ था कि रजवाड़े भारतीय संघ का अंग बनने के लिए सहमत हैं। जूनागढ़, हैदराबाद, कश्मीर और मणिपुर की रियासतों का विलय बाकियों की तुलना में थोड़ा कठिन साबित हुआ। इस अध्याय में हम हैदराबाद और मणिपुर की रियासतों के विलय के मामले पर गौर करेंगे। कश्मीर के विलय के बारे में आप अध्याय 8 में पढ़ेंगे।



हैदराबाद के निजाम के साथ सरदार पटेल

हैदराबाद

हैदराबाद की रियासत बहुत बड़ी थी। यह रियासत चारों तरफ़ से हिंदुस्तानी इलाके से घिरी थी। पुराने हैदराबाद के कुछ हिस्से आज के महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में और बाकी हिस्से आंध्रप्रदेश में हैं। हैदराबाद के शासक को 'निजाम' कहा जाता था और वह दुनिया के सबसे दौलतमंद लोगों में शुमार किया जाता था। निजाम चाहता था कि हैदराबाद की रियासत को आजाद रियासत का दर्जा दिया जाए। निजाम ने सन् 1947 के नवंबर में भारत के साथ यथास्थिति बहाल रखने का एक समझौता किया। यह समझौता एक साल के लिए था। इस बीच भारत सरकार से हैदराबाद के निजाम की बातचीत जारी रही।

इसी दौरान हैदराबाद की रियासत के लोगों के बीच निजाम के शासन के खिलाफ़ एक आंदोलन ने जोर पकड़ा। तेलंगाना इलाके के किसान निजाम के दमनकारी शासन से खासतौर पर दुखी थे। वे निजाम के खिलाफ़ उठ खड़े हुए। महिलाएँ निजाम के शासन में सबसे ज्यादा जुल्म का शिकार हुई थीं। महिलाएँ भी बड़ी संख्या में इस आंदोलन से आ जुड़ीं। हैदराबाद शहर इस आंदोलन का गढ़ बन गया। कम्युनिस्ट और हैदराबाद कांग्रेस इस आंदोलन की अग्रिम पंक्ति में थे। आंदोलन को देख निजाम ने लोगों के खिलाफ़ एक अर्द्ध-सैनिक बल रवाना किया। इसे रजाकार कहा जाता था। रजाकार अब्बल दर्जे के साप्रदायिक और अत्याचारी थे। रजाकारों ने गैर-मुसलमानों को खासतौर पर अपना निशाना



सरदार वल्लभभाई पटेल

(1875-1950) : आज़ादी के आंदोलन के नेता; कांग्रेस के नेता; महात्मा गांधी के अनुयायी; स्वतंत्र भारत के उप-प्रधानमंत्री और प्रथम गृहमंत्री; देसी रियासतों को भारत संघ में मिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका; मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यक, प्रांतीय संविधान आदि से संबंधित संविधान सभा की महत्वपूर्ण समितियों के सदस्य।



मैं सोचता हूँ कि
आखिर उन सैकड़ों
राजा-रानी, राजकुमार
और राजकुमारियों
का क्या हुआ होगा।
आखिर आम नागरिक
बनने के बाद उनका
जीवन कैसा रहा
होगा?

बनाया। रज्जाकारों ने लूटपाट मचायी और हत्या तथा बलात्कार पर उतारू हो गए। 1948 के सितंबर में भारतीय सेना, निजाम के सैनिकों पर काबू पाने के लिए हैदराबाद आ पहुँची। कुछ रोज तक रुक-रुक कर लड़ाई चली और इसके बाद निजाम ने आत्मसमर्पण कर दिया। निजाम के आत्मसमर्पण के साथ ही हैदराबाद का भारत में विलय हो गया।

मणिपुर

आजादी के चंद रोज पहले मणिपुर के महाराजा बोधचंद्र सिंह ने भारत सरकार के साथ भारतीय संघ में अपनी रियासत के विलय के एक सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। इसकी एवज में उन्हें यह आश्वासन दिया गया था कि मणिपुर की आंतरिक स्वायत्ता बरकरार रहेगी। जनमत के दबाव में महाराजा ने 1948 के जून में चुनाव करवाया और इस चुनाव के फलस्वरूप मणिपुर की रियासत में संवैधानिक राजतंत्र कायम हुआ। मणिपुर भारत का पहला भाग है जहाँ सार्वभौम व्यस्क मताधिकार के सिद्धांत को अपनाकर चुनाव हुए।

मणिपुर की विधानसभा में भारत में विलय के सवाल पर गहरे मतभेद थे। मणिपुर की कांग्रेस चाहती थी कि इस रियासत को भारत में मिला दिया जाए जबकि दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ इसके खिलाफ थीं। मणिपुर की निर्वाचित विधानसभा से परामर्श किए बगैर भारत सरकार ने महाराजा पर दबाव डाला कि वे भारतीय संघ में शामिल होने के समझौते पर हस्ताक्षर कर दें। भारत सरकार को इसमें सफलता मिली। मणिपुर में इस कदम को लेकर लोगों में क्रोध और नाराजगी के भाव पैदा हुए। इसका असर आज तक देखा जा सकता है।



यह कार्टून रज्जवाड़ों की जनता और वहाँ के शासकों के आपसी संबंधों पर टिप्पणी करता है। पटेल रज्जवाड़ों की समस्या को जिस ढंग से हल करना चाहते थे उसकी भी एक झलक इस कार्टून में देखी जा सकती है।

राज्यों का पुनर्गठन

बँटवारे और देसी रियासतों के विलय के साथ ही राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का अंत नहीं हुआ। भारतीय प्रांतों की आंतरिक सीमाओं को तय करने की चुनौती अभी सामने थी। यह महज प्रशासनिक विभाजन का मामला न था। प्रांतों की सीमाओं को इस तरह तय करने की चुनौती थी कि देश की भाषाई और सांस्कृतिक बहुलता की झलक मिले, साथ ही राष्ट्रीय एकता भी खड़ित न हो।

औपनिवेशिक शासन के समय प्रांतों की सीमाएँ प्रशासनिक सुविधा के लिहाज से तय की गई थीं या ब्रिटिश सरकार ने जितने क्षेत्र को जीत लिया हो उतना क्षेत्र एक अलग प्रांत मान लिया जाता था। प्रांतों की सीमा इस बात से भी तय होती थी कि किसी रजवाड़े के अंतर्गत कितना इलाका शामिल है।

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ऐसे सीमांकन को बनावटी मानकर खारिज कर दिया। उसने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का बायदा किया। सन् 1920 में कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन हुआ था। दरअसल, इसके बाद से ही इस सिद्धांत को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मान लिया था कि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर होगा। अनेक प्रांतीय कांग्रेस-समितियों को भाषाई इलाके के आधार पर बनाया गया था और ये समितियाँ ब्रिटिश इंडिया के प्रशासनिक विभाजन को अपने कामकाज में नहीं बरतती थीं।

आजादी और बँटवारे के बाद स्थितियाँ बदलीं। हमारे नेताओं को चिंता हुई कि अगर भाषा के आधार पर प्रांत बनाए गए तो इससे अव्यवस्था फैल सकती है तथा देश के टूटने का खतरा पैदा हो सकता है। हमारे नेताओं को यह भी लग रहा था कि भाषावार राज्यों के गठन से दूसरी सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों से ध्यान भटक सकता है जबकि देश इन चुनौतियों की चपेट में है। केंद्रीय नेतृत्व ने इस मसले को स्थगित करने का फैसला किया। रजवाड़ों का मसला अभी हल नहीं हुआ था। बँटवारे की यादें अभी ताज़ा थीं।

केंद्रीय नेतृत्व के इस फैसले को स्थानीय नेताओं और लोगों ने चुनौती दी। पुराने मद्रास प्रांत के तेलुगु-भाषी क्षेत्रों में विरोध भड़क उठा। पुराने मद्रास प्रांत में आज के तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश शामिल थे। इसके कुछ हिस्से मौजूदा केरल एवं कर्नाटक में भी हैं। विशाल आंध्र आंदोलन (आंध्र प्रदेश नाम से अलग राज्य बनाने के लिए चलाया गया आंदोलन) ने माँग की कि मद्रास प्रांत के तेलुगुभाषी इलाकों को अलग करके एक नया राज्य आंध्र प्रदेश बनाया जाए। तेलुगु-भाषी क्षेत्र की लगभग सारी राजनीतिक शक्तियाँ मद्रास प्रांत के भाषाई पुनर्गठन के पक्ष में थीं।

केंद्र सरकार 'हाँ-ना' की दुविधा में थी और उसकी इस मनोदशा से इस आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा। कांग्रेस के नेता और दिग्गज गाँधीवादी, पोट्टी श्रीरामलु, अनिश्चितकालीन भूख-हड़ताल पर बैठ गए। 56 दिनों की भूख-हड़ताल के बाद उनकी मृत्यु हो गई। इससे बड़ी अव्यवस्था फैली और आंध्र प्रदेश में जगह-जगह हिंसक घटनाएँ हुईं। लोग बड़ी संख्या में सड़कों पर निकल आए। पुलिस फायरिंग में अनेक लोग घायल हुए या मारे गए। मद्रास में अनेक विधायकों ने विरोध जताते हुए अपनी सीट से इस्तीफा दे दिया। आखिरकार 1952 के दिसंबर में प्रधानमंत्री ने आंध्र प्रदेश नाम से अलग राज्य बनाने की घोषणा की।

“

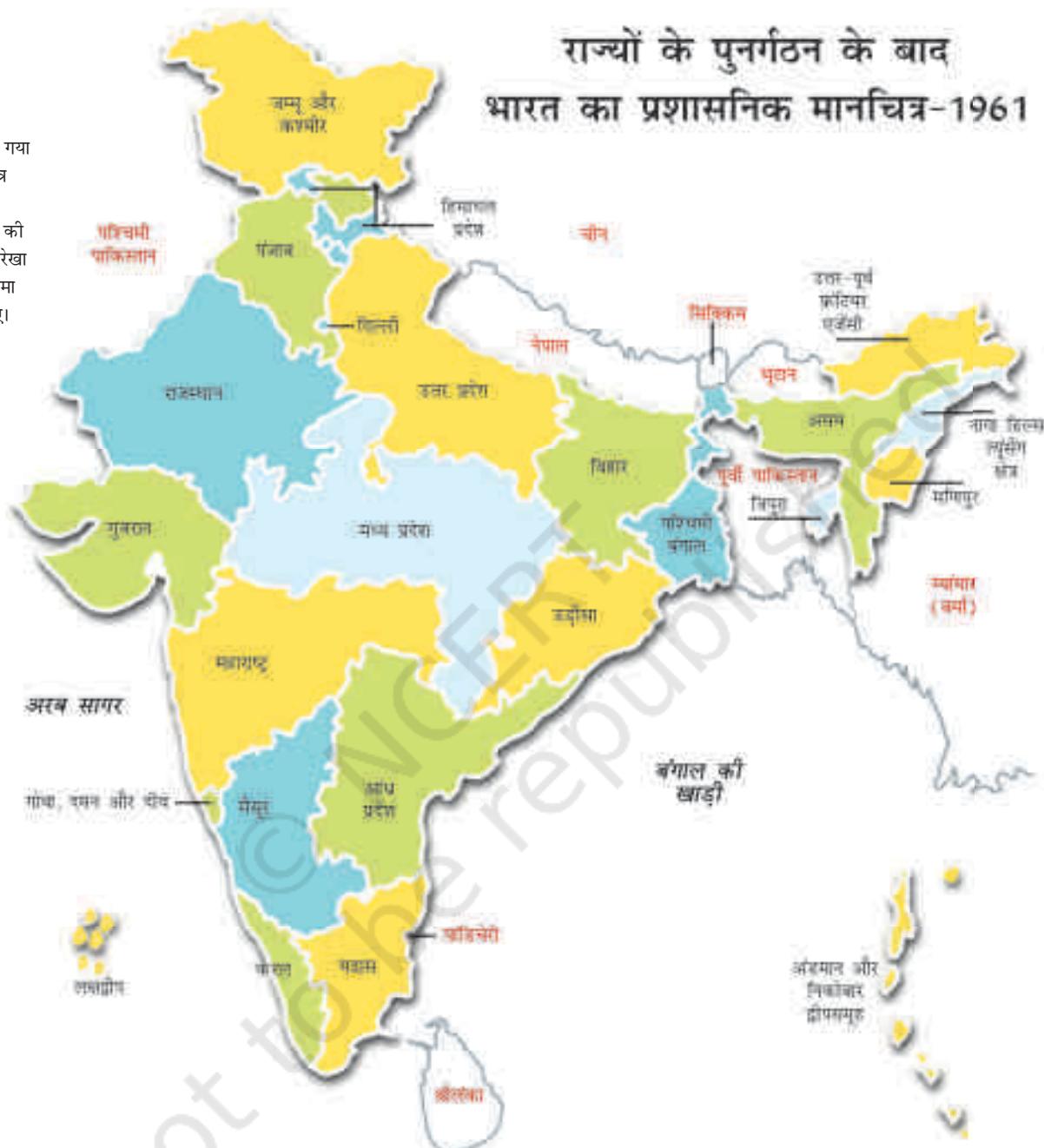
...यदि प्रांतों का गठन भाषावार हुआ तो क्षेत्रीय भाषाओं का ज़ोर बढ़ेगा। हिंदुस्तानी को सभी प्रांतों में शिक्षा का माध्यम बनाने का कोई अर्थ न रह जाएगा और अंग्रेजी को इस उद्देश्य के लिए इस्तेमाल करना तो और भी व्यर्थ है।

”

महात्मा गांधी

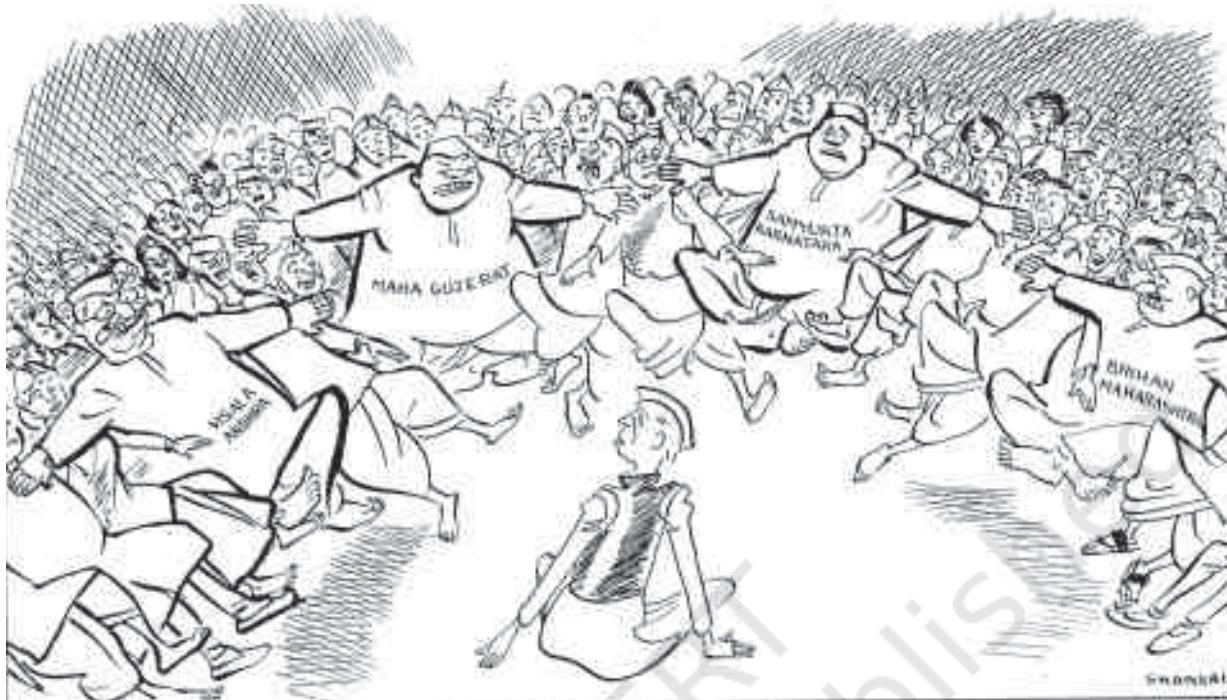
जनवरी 1948

नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।



मानचित्र को ध्यान से देखें और निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें:

1. स्वतंत्र राज्य बनने से पहले निम्नलिखित राज्य किन मूल राज्यों के अंग थे?
 - (क) गुजरात
 - (ख) हरियाणा
 - (ग) मेघालय
 - (घ) छत्तीसगढ़
2. देश के विभाजन से प्रभावित दो राज्यों के नाम बताएँ?
3. दो ऐसे राज्यों के नाम बताएँ जो पहले संघ-शासित राज्य थे?



‘स्ट्रगल फॉर सरवाइवल’ (26 जुलाई 1953) शीर्षक यह कार्टून उस दौर के माहौल को दर्शाता है जब राज्यों को भाषाई आधार पर गठित करने की माँग ज्ञार पकड़ रही थी।

आंध्र के गठन के साथ ही देश के दूसरे हिस्सों में भी भाषाई आधार पर राज्यों को गठित करने का संघर्ष चल पड़ा। इन संघर्षों से बाध्य होकर केंद्र सरकार ने 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग बनाया। इस आयोग का काम राज्यों के सीमांकन के मामले पर गौर करना था। इसने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया कि राज्यों की सीमाओं का निर्धारण वहाँ बोली जाने वाली भाषा के आधार पर होना चाहिए। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम के आधार पर 14 राज्य और 6 केंद्र-शासित प्रदेश बनाए गए।



है न दिलचस्प बात? नेहरू और बाकी नेता बड़े लोकप्रिय थे तो भी भाषाई राज्य की माँग को लेकर लोग उनकी इच्छा के विरुद्ध आदोलन करने से नहीं हिचकिचाए।

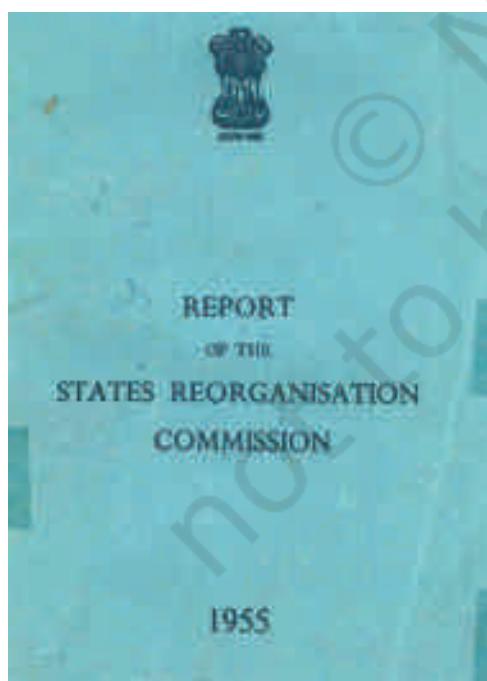


पोटटी श्रीरामुलु (1901-1952):
गांधीवादी कार्यकर्ता; नमक सत्याग्रह में भाग लेने के लिए सरकारी नौकरी छोड़ी; वैयक्तिक सत्याग्रह में भी भागीदारी; 1946 में इस माँग को लेकर उपवास पर बैठे कि मद्रास प्रांत के मंदिर दलितों के लिए खोल दिए जाएँ; आंध्र नाम से अलग राज्य बनाने की माँग को लेकर 19 अक्टूबर 1952 से आमरण अनशन; 15 दिसम्बर 1952 को अनशन के दौरान मृत्यु।



साथार: शंकर

'कोकिसंग द जेनी' (5 फरवरी, 1956) शीर्षक इस कार्टून में राज्य पुनर्गठन आयोग की भाषाई विवाद को सुलझाने की क्षमता पर सवाल उठाया गया है।



आजादी के बाद के शुरुआती सालों में एक बड़ी चिंता यह थी कि अलग राज्य बनाने की माँग से देश की एकता पर आँच आएगी। आशंका थी कि नए भाषाई राज्यों में अलगाववाद की भावना पनपेगी और नव-निर्मित भारतीय राष्ट्र पर दबाव बढ़ेगा। जनता के दबाव में आखिरकर नेतृत्व ने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का मन बनाया। उम्मीद थी कि अगर हर इलाके के क्षेत्रीय और भाषाई दावे को मान लिया गया तो बैंटवारे और अलगाववाद के खतरे में कमी आएगी। इसके अलावा क्षेत्रीय माँगों को मानना और भाषा के आधार पर नए राज्यों का गठन करना एक लोकतांत्रिक कदम के रूप में भी देखा गया।

भाषावार राज्यों के पुनर्गठन की घटना को आज 50 साल से भी अधिक समय हो गया। हम कह सकते हैं कि भाषाई राज्य तथा इन राज्यों के गठन के लिए चले आंदोलनों ने लोकतांत्रिक राजनीति तथा नेतृत्व की प्रकृति को बुनियादी रूपों में बदला है। राजनीति और सत्ता में भागीदारी का रास्ता अब एक छोटे-से अंग्रेजीभाषी अभिजात तबके के लिए ही नहीं, बाकियों के लिए भी खुल चुका था। भाषावार पुनर्गठन से राज्यों के सीमांकन के लिए

एक समरूप आधार भी मिला। बहुतों की आशंका के विपरीत इससे देश नहीं टूटा। इसके विपरीत देश की एकता और ज्यादा मजबूत हुई। सबसे बड़ी बात यह कि भाषावार राज्यों के पुनर्गठन से विभिन्नता के सिद्धांत को स्वीकृति मिली। जब हम कहते हैं कि भारत ने लोकतंत्र अपनाया है तो इसका सीधा-सा मतलब इतना भर नहीं होता कि भारत में लोकतांत्रिक संविधान पर अमल होता है अथवा भारत में चुनाव करवाए जाते हैं। भारत के लोकतांत्रिक होने का एक वृहत्तर अर्थ है। लोकतंत्र को चुनने का अर्थ था विभिन्नताओं को पहचानना और उन्हें स्वीकार करना। साथ ही, यह मानकर चलना कि विभिन्नताओं में आपसी विरोध भी हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत में लोकतंत्र की धारणा विचारों और जीवन-पद्धतियों की बहुलता की धारणा से जुड़ी हुई थी। आगे के दिनों में अधिकतर राजनीति इसी दायरे में चली।

कुछ आगे की...

नए राज्यों का निर्माण

भाषावार राज्यों को पुनर्गठित करने के सिद्धांत को मान लेने का अर्थ यह नहीं था कि सभी राज्य तत्काल भाषाई राज्य में तब्दील हो गए। एक प्रयोग द्विभाषी राज्य बंबई के रूप में किया गया जिसमें गुजराती और मराठी भाषा बोलने वाले लोग थे। एक जन-आंदोलन के बाद सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य बनाए गए।

पंजाब में भी हिन्दी-भाषी और पंजाबी-भाषी दो समुदाय थे। पंजाबी-भाषी लोग अलग राज्य की माँग कर रहे थे। बहरहाल, बाकी राज्यों की तरह उनकी माँग 1956 में नहीं ही मानी गई। दस साल बाद यानी 1966 में पंजाबी-भाषी इलाके को पंजाब राज्य का दर्जा दिया गया और वृहत्तर पंजाब से अलग करके हरियाणा और हिमाचल प्रदेश नाम के राज्य बनाए गए।

1972 में एक बार फिर राज्यों के पुनर्गठन का एक बड़ा प्रयास पूर्वोत्तर में हुआ। असम से अलग करके 1972 में मेघालय बनाया गया। इसी साल मणिपुर और त्रिपुरा भी अलग राज्य के रूप में अस्तित्व में आए। मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश 1987 में बजूद में आए जबकि नगालैंड इससे कहीं पहले यानी 1963 में ही राज्य बन गया था।

बहरहाल, राज्यों के पुनर्गठन में सिर्फ़ भाषा को आधार बनाया गया हो, ऐसी बात नहीं। बाद के वर्षों में अनेक उप-क्षेत्रों ने अलग क्षेत्रीय संस्कृति अथवा विकास के मामले में क्षेत्रीय असंतुलन के सवाल उठाकर अलग राज्य बनाने की माँग की। ऐसे तीन राज्य-छत्तीसगढ़, उत्तराखण्ड और झारखण्ड—सन् 2000 में बने। राज्यों के पुनर्गठन की कथा अभी समाप्त नहीं हुई है। देश के अनेक इलाकों में छोटे-छोटे अलग राज्य बनाने की माँग को लेकर आंदोलन चल रहे हैं। महाराष्ट्र में विदर्भ, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हरित प्रदेश और पश्चिम बंगाल के उत्तरी भाग में राज्य बनाने के ऐसे आंदोलन चल रहे हैं।



संयुक्त राज्य अमरीका की जनसंख्या अपने देश के मुकाबले एक-चौथाई है लेकिन वहाँ 50 राज्य हैं। भारत में 100 से भी ज्यादा राज्य क्यों नहीं हो सकते?

इतिहास

1. भारत-विभाजन के बारे में निम्नलिखित कौन-सा कथन गलत है?

- (क) भारत-विभाजन “द्विराष्ट्र सिद्धांत” का परिणाम था।
- (ख) धर्म के आधार पर दो प्रांतों-पंजाब और बंगाल-का बँटवारा हुआ।
- (ग) पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान में संगति नहीं थी।
- (घ) विभाजन की योजना में यह बात भी शामिल थी कि दोनों देशों के बीच आबादी की अदला-बदली होगी।

2. निम्नलिखित सिद्धांतों के साथ उचित उदाहरणों का मेल करें :

- (क) धर्म के आधार पर देश की सीमा का निर्धारण
- (ख) विभिन्न भाषाओं के आधार पर देश की सीमा का निर्धारण
- (ग) भौगोलिक आधार पर किसी देश के क्षेत्रों का सीमांकन
- (घ) किसी देश के भीतर प्रशासनिक और राजनीतिक आधार पर क्षेत्रों का सीमांकन

1. पाकिस्तान और बांग्लादेश

2. भारत और पाकिस्तान

3. झारखंड और छत्तीसगढ़

4. हिमाचल प्रदेश और उत्तराखण्ड

3. भारत का कोई समकालीन राजनीतिक नक्शा लीजिए (जिसमें राज्यों की सीमाएँ दिखाई गई हों) और नीचे लिखी रियासतों के स्थान चिह्नित कीजिए-

- | | |
|------------|--------------|
| (क) जूनगढ़ | (ख) मणिपुर |
| (ग) मैसूर | (घ) ग्वालियर |

4. नीचे दो तरह की राय लिखी गई है :

विस्मय : रियासतों को भारतीय संघ में मिलाने से इन रियासतों की प्रजा तक लोकतंत्र का विस्तार हुआ।

इंद्रप्रीत : यह बात मैं दावे के साथ नहीं कह सकता। इसमें बलप्रयोग भी हुआ था जबकि लोकतंत्र में आम सहमति से काम लिया जाता है।

देशी रियासतों के विलय और ऊपर के मशविरे के आलोक में इस घटनाक्रम पर आपकी क्या राय है?

5. नीचे 1947 के अगस्त के कुछ बयान दिए गए हैं जो अपनी प्रकृति में अत्यंत भिन्न हैं :

आज आपने अपने सर पर काँटों का ताज पहना है। सत्ता का आसन एक बुरी चीज़ है। इस आसन पर आपको बड़ा सचेत रहना होगा... आपको और ज्यादा विनम्र और धैर्यवान बनना होगा... अब लगातार आपकी परीक्षा ली जाएगी।

-मोहनदास करमचंद गांधी

...भारत आजादी की जिंदगी के लिए जागेगा... हम पुराने से नए की ओर कदम बढ़ाएँगे... आज दुर्भाग्य के एक दौर का खात्मा होगा और हिंदुस्तान अपने को फिर से पा लेगा... आज हम जो जश्न मना रहे हैं वह एक कदम भर है, संभावनाओं के द्वार खुल रहे हैं...

-जवाहरलाल नेहरू

इन दो बयानों से राष्ट्र-निर्माण का जो एजेंडा ध्वनित होता है उसे लिखिए। आपको कौन-सा एजेंडा ज़ैच रहा है और क्यों?

6. भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाने के लिए नेहरू ने किन तर्कों का इस्तेमाल किया। क्या आपको लगता है कि ये केवल भावनात्मक और नैतिक तर्क हैं अथवा इनमें कोई तर्क युक्तिपरक भी है?
7. आजादी के समय देश के पूर्वी और पश्चिमी इलाकों में राष्ट्र-निर्माण की चुनौती के लिहाज से दो मुख्य अंतर क्या थे?
8. राज्य पुनर्गठन आयोग का काम क्या था? इसकी प्रमुख सिफारिश क्या थी?
9. कहा जाता है कि राष्ट्र एक व्यापक अर्थ में 'कल्पित समुदाय' होता है और सर्वसामान्य विश्वास, इतिहास, राजनीतिक आकांक्षा और कल्पनाओं से एकसूत्र में बँधा होता है। उन विशेषताओं की पहचान करें जिनके आधार पर भारत एक राष्ट्र है।
10. नीचे लिखे अवतरण को पढ़िए और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए—
राष्ट्र-निर्माण के इतिहास के लिहाज से सिर्फ सोवियत संघ में हुए प्रयोगों की तुलना भारत से की जा सकती है। सोवियत संघ में भी विभिन्न और परस्पर अलग-अलग जातीय समूह, धर्म, भाषाएँ समुदाय और सामाजिक वर्गों के बीच एकता का भाव कायम करना पड़ा। जिस पैमाने पर यह काम हुआ, चाहे भौगोलिक पैमाने के लिहाज से देखें या जनसंख्यागत वैविध्य के लिहाज से, वह अपनेआप में बहुत व्यापक कहा जाएगा। दोनों ही जगह राज्य को जिस कच्ची सामग्री से राष्ट्र-निर्माण की शुरुआत करनी थी वह समान रूप से दुष्कर थीं। लोग धर्म के आधार पर बँटे हुए और कर्ज तथा बीमारी से दबे हुए थे।

—रामचंद्र गुहा

- (क) यहाँ लेखक ने भारत और सोवियत संघ के बीच जिन समानताओं का उल्लेख किया है, उनकी एक सूची बनाइए। इनमें से प्रत्येक के लिए भारत से एक उदाहरण दीजिए।
- (ख) लेखक ने यहाँ भारत और सोवियत संघ में चली राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं के बीच की असमानता का उल्लेख नहीं किया है। क्या आप दो असमानताएँ बता सकते हैं?
- (ग) अगर पीछे मुड़कर देखें तो आप क्या पाते हैं? राष्ट्र-निर्माण के इन दो प्रयोगों में किसने बेहतर काम किया और क्यों?

खुद करें-खुद समझें

किसी भारतीय अथवा पाकिस्तानी/बांग्लादेशी कथाकार की लिखी कोई कहानी या उपन्यास पढ़ें जिसमें बँटवारे का जिक्र आया हो। सीमा के इस तरफ के लोगों और सीमा के उस तरफ के लोगों के अनुभव कैसे एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं?

'खोजबीन' शीर्षक के अंतर्गत इस अध्याय में सुझाई गई तमाम कथाओं को एकत्र करें। एक वॉलपेपर तैयार करें और इसमें मिलते-जुलते अनुभवों वाले स्थल को रेखांकित करें। साथ ही, किसी अनूठे अनुभव को भी इसमें स्थान दें।



साभार: शंकर

शंकर का यह मुख्यपृष्ठ प्रसिद्ध कार्टून उनके संग्रह 'डॉन्ट स्पेयर मी शंकर' के मुख्यपृष्ठ से लिया गया है। मूल कार्टून भारत की चीन नीति पर बनाया गया था लेकिन यहाँ यह कार्टून एक-दलीय प्रभुत्व के समय कांग्रेस द्वारा निर्भाइ जा रही सत्ता पक्ष और विपक्ष की दोहरी भूमिका और दोहरी नीति को भी दर्शाता है।

इस अध्याय में...

पिछले अध्याय में हमने राष्ट्र-निर्माण की चुनौती के बारे में चर्चा की थी। राष्ट्र-निर्माण की चुनौती के तुरंत बाद हमारे सामने एक और चुनौती लोकतांत्रिक राजनीति की ज़मीन तैयार करने की थी। राजनीतिक दलों के बीच चुनावी प्रतिस्पर्धा आजादी के तुरंत बाद शुरू हो गई थी। इस अध्याय में हम चुनावी राजनीति के पहले दशक की बातों पर गौर करेंगे। इस चर्चा से हम निम्नलिखित बातों को समझ सकेंगे :

- एक स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव-प्रणाली की स्थापना;
- आजादी के बाद के शुरुआती सालों में कांग्रेस पार्टी का दबदबा;
- विपक्षी दलों और उनकी नीतियों का उद्भव।

एक दल के प्रभुत्व का दौर



लोकतंत्र स्थापित करने की चुनौती

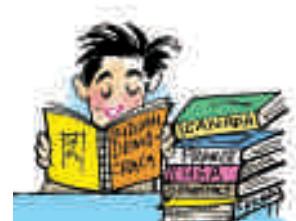
आपको अब अंदाज़ा लग चुका होगा कि स्वतंत्र भारत का जन्म किन कठिन परिस्थितियों में हुआ। अपने देश के सामने शुरुआत से ही राष्ट्र-निर्माण की चुनौती थी और इन गंभीर चुनौतियों के बारे में आप पढ़ चुके हैं। ऐसी चुनौतियों की चपेट में आकर कई अन्य देशों के नेताओं ने फ़ैसला किया कि उनके देश में अभी लोकतंत्र को नहीं अपनाया जा सकता है। इन नेताओं ने कहा कि राष्ट्रीय एकता हमारी पहली प्राथमिकता है और लोकतंत्र को अपनाने से मतभेद और संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा। उपनिवेशवाद के चंगुल से आजाद हुए कई देशों में इसी कारण अलोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम हुई। इस अलोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था के कई रूप थे। कहीं पर थोड़ा-बहुत लोकतंत्र रहा, लेकिन प्रभावी नियंत्रण किसी एक नेता के हाथ में था तो कहीं पर एक दल का शासन कायम हुआ और कहीं-कहीं पर सीधे-सीधे सेना ने सत्ता की बागड़ोर सँभाली। अलोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं की शुरुआत इस बायद से हुई कि जल्दी ही लोकतंत्र कायम कर दिया जाएगा। बहरहाल, एक बार कहीं अलोकतांत्रिक शासन के पाँव जम गए तो फिर उसे बदल पाना मुश्किल होता गया।

भारत में भी परिस्थितियाँ बहुत अलग नहीं थीं, लेकिन आजाद भारत के नेताओं ने अपने लिए कहीं ज्यादा कठिन रास्ता चुनने का फ़ैसला किया। नेताओं ने कोई और रास्ता चुना होता तो वह आश्चर्य की बात होती क्योंकि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम की गहरी प्रतिबद्धता लोकतंत्र से थी। हमारे नेता लोकतंत्र में राजनीति की निर्णायक भूमिका को लेकर सचेत थे। वे राजनीति को समस्या के रूप में नहीं देखते थे; वे राजनीति को समस्या के समाधान का उपाय मानते थे। हर समाज के लिए यह फ़ैसला करना ज़रूरी होता है कि उसका शासन कैसे चलेगा और वह किन कायदे-कानूनों पर अमल करेगा। चुनने के लिए हमेशा कई नीतिगत विकल्प मौजूद होते हैं। किसी भी समाज में कई समूह होते हैं। इनकी आकांक्षाएँ अक्सर अलग-अलग और एक-दूसरे के विपरीत होती हैं। ऐसे में हम विभिन्न समूहों के हितों के आपसी टकराव से कैसे निपट सकते हैं? इसी सवाल का जवाब है—लोकतांत्रिक राजनीति। सत्ता और प्रतिस्पर्धा राजनीति की दो सबसे ज्यादा ज़ाहिर चीज़ें हैं। लेकिन, राजनीतिक गतिविधि का उद्देश्य जनहित का फ़ैसला करना और उस पर अमल करना होता है और ऐसा होना भी चाहिए। हमारे नेताओं ने इसी रास्ते को चुनने का फ़ैसला किया।

पिछले साल आपने पढ़ा कि हमारा संविधान कैसे बना। आपको याद होगा कि हमारा संविधान 26 नवम्बर 1949 को अंगीकृत किया गया और 24 जनवरी 1950 को इस पर हस्ताक्षर हुए। यह संविधान 26 जनवरी 1950 से अमल में आया। उस वक्त देश का शासन अंतरिम सरकार चला रही थी। वक्त का तकाज़ा था कि देश का शासन लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार द्वारा चलाया जाए। संविधान ने नियम तय कर दिए थे और अब इन्हीं नियमों पर अमल करने की ज़रूरत थी। शुरू-शुरू में ख्याल था कि यह काम महज चंद महीनों का है। भारत के चुनाव आयोग का गठन 1950 के जनवरी में हुआ। सुकुमार सेन पहले चुनाव आयुक्त बने। उम्मीद की जा रही थी कि देश का पहला आम चुनाव 1950 में ही किसी वक्त हो जाएगा।

“ हिंदुस्तान की राजनीति में नायक-पूजा जितनी बड़ी भूमिका अदा करती है, उसकी तुलना दुनिया के किसी भी देश की राजनीति में मौजूद नायक-पूजा के भाव से नहीं की जा सकती... लेकिन राजनीति में नायक-पूजा का भाव सीधे पतन की ओर ले जाता है और यह रास्ता तानाशाही की तरफ जाता है... ”

डॉ. भीमराव अंबेडकर
संविधान सभा में भाषण
25 नवंबर, 1949



हमारे लोकतंत्र में ही ऐसी कौन-सी खूबी है?
आखिर देर-सबेर हर देश ने लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपना ही लिया है। है न?



यह एक सही फैसला था। लेकिन ऐसे लोगों का क्या किया जाए जो अभी भी औरतों को किसी की पत्नी के रूप में देखने के आदि हैं। इस तरह के व्यवहार से लगता है, मानो एक स्त्री का कोई नाम ही न हो।

बहरहाल, चुनाव आयोग ने पाया कि भारत के आकार को देखते हुए एक स्वतंत्र और निष्पक्ष आम चुनाव कराना कोई आसान मामला नहीं है। चुनाव कराने के लिए चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन ज़रूरी था। फिर, मतदाता-सूची यानी मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों की सूची बनाना भी आवश्यक था। इन दोनों कामों में बहुत सारा समय लगा। मतदाता-सूचियों का जब पहला प्रारूप प्रकाशित हुआ तो पता चला कि इसमें 40 लाख महिलाओं के नाम दर्ज होने से रह गए हैं। इन महिलाओं को 'अलां की बेटी' 'फलां की बीवी'.... के रूप में दर्ज किया गया था। चुनाव आयोग ने ऐसी प्रविष्टियों को मानने से इनकार कर दिया। आयोग ने फैसला किया कि संभव हो तो इसका पुनरावलोकन किया जाए और ज़रूरी लगे तो ऐसी प्रविष्टियों को हटाया जाए। यह अपने आप में हिमालय की चढ़ाई जैसा दुष्कर काम था। इतने बड़े पैमाने का ऐसा काम दुनिया में अब तक नहीं हुआ था। उस वक्त देश में 17 करोड़ मतदाता थे। इन्हें 3200 विधायक और लोकसभा के लिए 489 सांसद चुनने थे। इन मतदाताओं में महज 15 फीसदी साक्षर थे। इस कारण चुनाव आयोग को मतदान की विशेष पद्धति के बारे में भी सोचना पड़ा। चुनाव आयोग ने चुनाव कराने के लिए 3 लाख से ज्यादा अधिकारियों और चुनावकर्मियों को प्रशिक्षित किया।

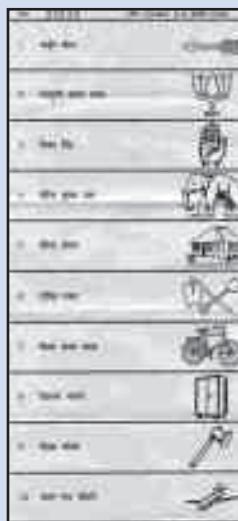
देश के विशाल आकार और मतदाताओं की भारी-भरकम संख्या के लिहाज से ही पहला आम चुनाव अनूठा नहीं था, बल्कि मतदाताओं की एक बड़ी तादाद गरीब और अनपढ़ लोगों की थी और ऐसे माहौल में यह चुनाव लोकतंत्र के लिए परीक्षा की कठिन घड़ी था। इस वक्त तक लोकतंत्र सिर्फ धनी देशों में ही कायम था। उस समय यूरोप के बहुतेरे देशों में महिलाओं को मताधिकार नहीं मिला था। ऐसे में हिंदुस्तान में सार्वभौम मताधिकार पर अमल



माझार : शंकर, 20 मई 1951

1951 में कांग्रेस द्वारा पार्टी उम्मीदवार चुनने के लिए बनाई गई चुनाव समिति पर कार्टूनिस्ट का एक नज़रिया। समिति में नेहरू के अलावा मोरारजी देसाई, रफ़ी अहमद किदवई, डॉ. बी.सी. रॉय, कामराज नाडार, राजगोपालाचारी, जगजीवन राम, मौलाना आजाद, डी.पी. मिश्रा, पी.डी. टंडन और गोविन्द बल्लभ पंत दिखाई दे रहे हैं।

मतदान के बदलते तरीके



लोकसभा के तीसरे आम चुनाव से तेरहवें आम चुनाव तक इस्तेमाल किए गए बैलट पेपर का एक नमूना।

शुरुआती दो चुनावों के बाद यह तरीका बदल दिया गया। अब मतपत्र पर हर उम्मीदवार का नाम और चुनाव-चिह्न अंकित किया जाने लगा। मतदाता को इस मतपत्र पर अपने पसंद के उम्मीदवार के नाम पर मुहर लगानी होती थी। यह तरीका अगले चालीस सालों तक अमल में रहा। सन् 1990 के दशक के अंत में चुनाव आयोग ने इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (ईवीएम) का इस्तेमाल शुरू किया। 2004 तक पूरे देश में ईवीएम का इस्तेमाल चालू हो गया।



इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन

अपने परिवार और पड़ोस के बुजुर्गों से चुनाव में भागीदारी के उनके अनुभवों के बारे में पूछिए।

- क्या इनमें से किसी ने पहले या दूसरे आम चुनाव में भाग लिया था? इन लोगों ने किसको वोट दिया और वोट देने का कारण क्या था?
- क्या इनमें कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने तीनों तरीके से मतदान किया हो? कौन-सा तरीका उसे सबसे ज्यादा पसंद आया?
- उस दौर के चुनावों की तुलना में आज के समय के चुनावों में इन्हें क्या-क्या फ़र्क नज़र आते हैं?

खोज-बीन



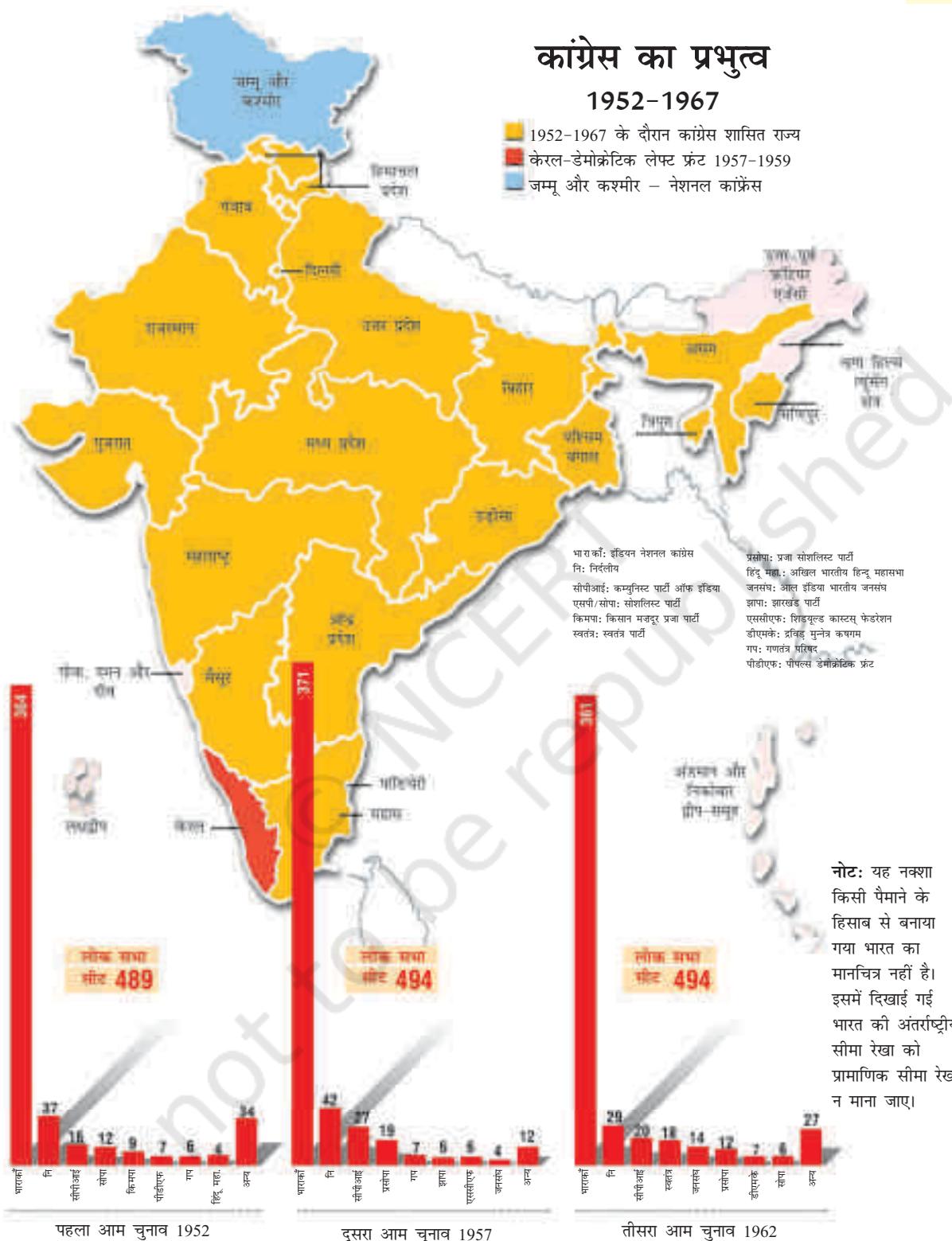
**मौलाना अबुल क़लाम
आज़ाद (1888-1958):**
मूल नाम – अबुल कलाम
मोहियुद्दीन अहमद; इस्लाम के
विद्वान; स्वतंत्रता सेनानी और
कांग्रेस के नेता; हिंदू-मुस्लिम
एकता के प्रतिपादक; विभाजन
के विरोधी; संविधान सभा के
सदस्य; स्वतंत्र भारत में बने
पहले मंत्रिमंडल में शिक्षामंत्री

हुआ और यह अपने आप में बड़ा जोखिम भरा प्रयोग था। एक हिंदुस्तानी संपादक ने इसे “इतिहास का सबसे बड़ा जुआ” करार दिया। ‘आर्गनाइजर’ नाम की पत्रिका ने लिखा कि जवाहरलाल नेहरू “अपने जीवित रहते ही यह देख लेंगे और पछाटाएँगे कि भारत में सार्वभौम मताधिकार असफल रहा।” इंडियन सिविल सर्विस के एक अँगेज नुमाइंदे का दावा था कि “आने वाला वक्त और अब से कहाँ ज्यादा जानकार दौर बढ़े विस्मय से लाखों अनपढ़ लोगों के मतदान की यह बेहूदी नौटंकी देखेगा।”

चुनावों को दो बार स्थगित करना पड़ा और आखिरकार 1951 के अक्टूबर से 1952 के फरवरी तक चुनाव हुए। बहरहाल, इस चुनाव को अमूमन 1952 का चुनाव ही कहा जाता है क्योंकि देश के अधिकांश हिस्सों में मतदान 1952 में ही हुए। चुनाव अभियान, मतदान और मतगणना में कुल छह महीने लगे। चुनावों में उम्मीदवारों के बीच मुकाबला भी हुआ। औसतन हर सीट के लिए चार उम्मीदवार चुनाव के मैदान में थे। लोगों ने इस चुनाव में बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की। कुल मतदाताओं में आधे से अधिक ने मतदान के दिन अपना वोट डाला। चुनावों के परिणाम घोषित हुए तो हारने वाले उम्मीदवारों ने भी इन परिणामों को निष्पक्ष बताया। सार्वभौम मताधिकार के इस प्रयोग ने आलोचकों का मुँह बंद कर दिया। टाइम्स ऑफ इंडिया ने माना कि इन चुनावों ने “उन सभी आलोचकों के संदेहों पर पानी फेर दिया है जो सार्वभौम मताधिकार की इस शुरुआत को इस देश के लिए जोखिम का सौदा मान रहे थे।” देश से बाहर के पर्यवेक्षक भी हैरान थे। हिंदुस्तान टाइम्स ने लिखा- “यह बात हर जगह मानी जा रही है कि भारतीय जनता ने विश्व के इतिहास में लोकतंत्र के सबसे बड़े प्रयोग को बखूबी अंजाम दिया।” 1952 का आम चुनाव पूरी दुनिया में लोकतंत्र के इतिहास के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। अब यह दलील दे पाना संभव नहीं रहा कि लोकतांत्रिक चुनाव गरीबी अथवा अशिक्षा के माहौल में नहीं कराए जा सकते। यह बात साबित हो गई कि दुनिया में कहीं भी लोकतंत्र पर अमल किया जा सकता है।

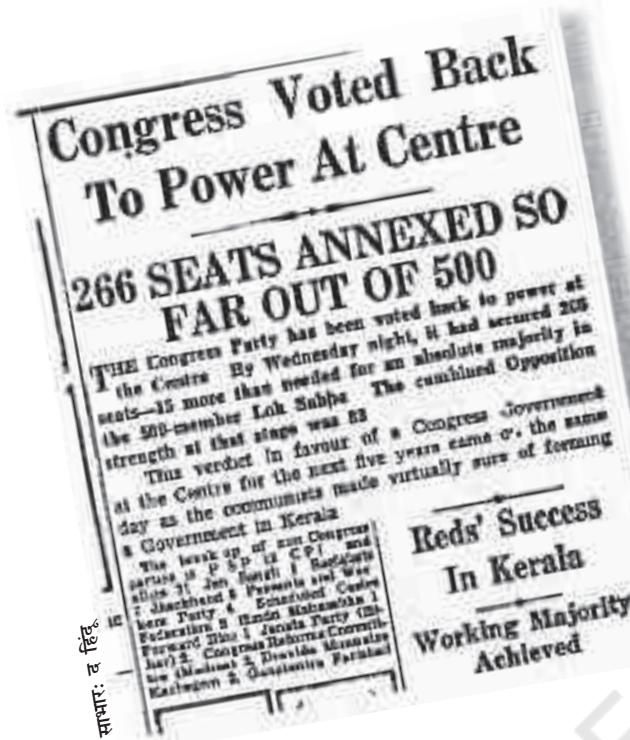
पहले तीन चुनावों में कांग्रेस का प्रभुत्व

पहले आम चुनाव के नतीजों से शायद ही किसी को अचंभा हुआ हो। आशा यही थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस चुनाव में जीत जाएगी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लोकप्रचलित नाम कांग्रेस पार्टी था और इस पार्टी को स्वाधीनता संग्राम की विरासत हासिल थी। तब के दिनों में यही एकमात्र पार्टी थी जिसका संगठन पूरे देश में था। फिर, इस पार्टी में खुद जवाहरलाल नेहरू थे जो भारतीय राजनीति के सबसे करिशमाई और लोकप्रिय नेता थे। नेहरू ने कांग्रेस पार्टी के चुनाव अभियान की अगुआई की और पूरे देश का दौरा किया। जब चुनाव परिणाम घोषित हुए तो कांग्रेस पार्टी की भारी-भरकम जीत से बहुतों को आश्चर्य हुआ। इस पार्टी ने लोकसभा के पहले चुनाव में कुल 489 सीटों में 364 सीटें जीतीं और इस तरह वह किसी भी प्रतिद्वंद्वी से चुनावी दौड़ में बहुत आगे निकल गई। जहाँ तक सीटों पर जीत हासिल करने का सवाल है, पहले आम चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दूसरे नंबर पर रही। उसे



क्या आप उन जगहों को पहचान सकते हैं जहाँ कांग्रेस बहुत मजबूत थी?

किन प्रांतों में दूसरी पार्टियों को ज्यादातर सीटें मिलीं?



राजकुमारी अमृतकौर

(1889-1964): गाँधीवादी स्वतंत्रता सेनानी; कपूरथला के राजपरिवार में जन्म; विरासत में माता से ईसाई धर्म मिला; संविधान सभा की सदस्य; स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में स्वास्थ्य मंत्री; 1957 तक स्वास्थ्य मंत्री के पद पर रहीं।

केरल का है। 1957 में केरल में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की अगुआई में एक गठबंधन सरकार बनी। ऐसे एकाध मामलों को अपवाद मान लें तो कहा जा सकता है कि केंद्र सरकार और प्रांतीय सरकारों पर कांग्रेस पार्टी का पूरा नियंत्रण था।

कांग्रेस पार्टी की जीत का यह आँकड़ा और दायरा हमारी चुनाव-प्रणाली के कारण भी बढ़ा-चढ़ा दिखता है। चुनाव प्रणाली के कारण कांग्रेस पार्टी की जीत को अलग से बढ़ावा मिला। मिसाल के लिए, 1952 में कांग्रेस पार्टी को कुल वोटों में से मात्र 45 प्रतिशत वोट हासिल हुए थे लेकिन कांग्रेस को 74 फीसदी सीटें हासिल हुईं। सोशलिस्ट पार्टी वोट हासिल करने के लिहाज से दूसरे नंबर पर रही। उसे 1952 के चुनाव में पूरे देश में कुल 10 प्रतिशत वोट मिले थे लेकिन यह पार्टी 3 प्रतिशत सीटें भी नहीं जीत पायी। आखिर यह हुआ कैसे? पिछले साल 'भारतीय संविधान : सिद्धान्त और व्यवहार' नामक किताब में आपने 'सर्वाधिक वोट पाने वाले की जीत' के बारे में पढ़ा था। इससे जुड़ी चर्चा को अगर याद करें तो आपको इस सवाल का जवाब मिल जाएगा।

हमारे देश की चुनाव-प्रणाली में 'सर्वाधिक वोट पाने वाले की जीत' के तरीके को अपनाया गया है। ऐसे में अगर कोई पार्टी बाकियों की अपेक्षा थोड़े ज्यादा वोट हासिल करती है तो दूसरी पार्टियों को प्राप्त वोटों के अनुपात की तुलना में उसे कहीं ज्यादा सीटें हासिल होती हैं। यही चीज कांग्रेस पार्टी के पक्ष में साबित हुई। अगर हम सभी गैर-कांग्रेसी उम्मीदवारों के वोट जोड़ दें तो वह कांग्रेस पार्टी को हासिल कुल वोट से कहीं ज्यादा होंगे। लेकिन गैर-कांग्रेसी वोट विभिन्न प्रतिस्पर्धी पार्टियों और उम्मीदवारों में बँट गए। इस तरह कांग्रेस बाकी पार्टियों की तुलना में आगे रही और उसने ज्यादा सीटें जीतीं।



THE HINDU

INDIA'S NATIONAL NEWSPAPER

MADRAS, FRIDAY, JULY 11, 1958.

ONE RUPEE
125/- IN RATES



PRESIDENT'S RULE IN KERALA

CABINET ADVISES ACTION UNDER ARTICLE 356

PROCLAMATION MAY BE ISSUED TO-DAY

(From Our Correspondent)

NEW DELHI, July 10.—(The Central Government, advised by President of India, H. S. Seshadri, to take over the administration of Kerala State under Article 356 of the Constitution, is likely to issue the Proclamation to-day.

The proclamation by the President, taking over the administration of the Kerala Government, the first of which has been sent for his approval, is expected to be issued tomorrow. It is likely to be issued over the mid-night of July 11.

At a press conference held yesterday afternoon, Prime Minister Jawaharlal Nehru said that the Central Government had decided to take over the administration of Kerala State under Article 356 of the Constitution. This was done after the Central Government received the report of the Commission of Enquiry into the working of the Government of Kerala, headed by Justice M. A. Deshpande, which submitted its report to the Prime Minister on July 9.

At a press conference held yesterday afternoon, Prime Minister Jawaharlal Nehru said that the Central Government had decided to take over the administration of Kerala State under Article 356 of the Constitution. This was done after the Central Government received the report of the Commission of Enquiry into the working of the Government of Kerala, headed by Justice M. A. Deshpande, which submitted its report to the Prime Minister on July 9.

INTERVENTION BY CENTRE

KERALA MINISTER'S REACTION

"TRAGIC BRAHMA MEARSIS" ENSH

NEW DELHI, July 10.—(The Central Government, advised by President of India, H. S. Seshadri, to take over the administration of Kerala State under Article 356 of the Constitution, is likely to issue the Proclamation to-day.



EXI

ANOTHER MAJOR WAR UNLIKELY

SHRIMPANEY'S VIEW: "FOREIGN मुद्दाज चाय में विदेशी मुद्दों के साथ एक अद्यतन का दृष्टिकोण"

मुद्दों के साथ एक अद्यतन का दृष्टिकोण

केरल में कम्युनिस्टों की जीत

1957 में ही कांग्रेस पार्टी को केरल में हार का स्वाद चखना पड़ गया था। 1957 के मार्च महीने में जो विधानसभा के चुनाव हुए उसमें कम्युनिस्ट पार्टी को केरल की विधानसभा के लिए सबसे ज्यादा सीटें मिलीं। कम्युनिस्ट पार्टी को कुल 126 में से 60 सीटें हासिल हुईं और पाँच स्वतंत्र उम्मीदवारों का भी समर्थन इस पार्टी को प्राप्त था। राज्यपाल ने कम्युनिस्ट विधायक दल के नेता ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद को सरकार बनाने का न्यौता दिया। दुनिया में यह पहला अवसर था जब एक कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार लोकतांत्रिक चुनावों के जरिए बनी।

केरल में सत्ता से बेदखल होने पर कांग्रेस पार्टी ने निर्वाचित सरकार के खिलाफ 'मुक्ति संघर्ष' छेड़ दिया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में इस वायरे के साथ आई थी कि वह कुछ क्रांतिकारी तथा प्रगतिशील नीतिगत पहल करेगी। कम्युनिस्टों का कहना था कि इस संघर्ष की अगुआई निहित स्वार्थ और धार्मिक संगठन कर रहे हैं। 1959 में केंद्र की कांग्रेस सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 356 के अंतर्गत केरल की कम्युनिस्ट सरकार को बर्खास्त कर दिया। यह फ़ैसला बड़ा विवादास्पद साबित हुआ। संविधान-प्रदत्त आपात्कालीन शक्तियों के दुरुपयोग के पहले उदाहरण के रूप में इस फ़ैसले का बार-बार उपयोग किया गया।

अगस्त 1959 में अपने मंत्रालय को बर्खास्त किए जाने के बाद त्रिवेन्द्रम में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के प्रदर्शन का नेतृत्व करते ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद।

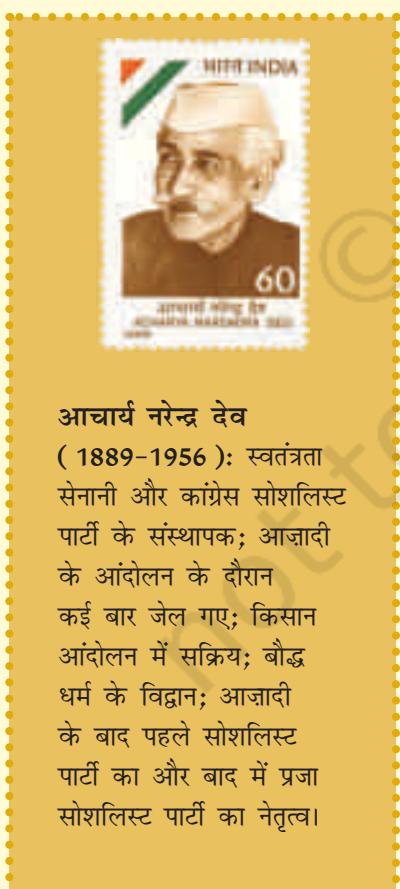


साप्तरिक
साप्तरिक



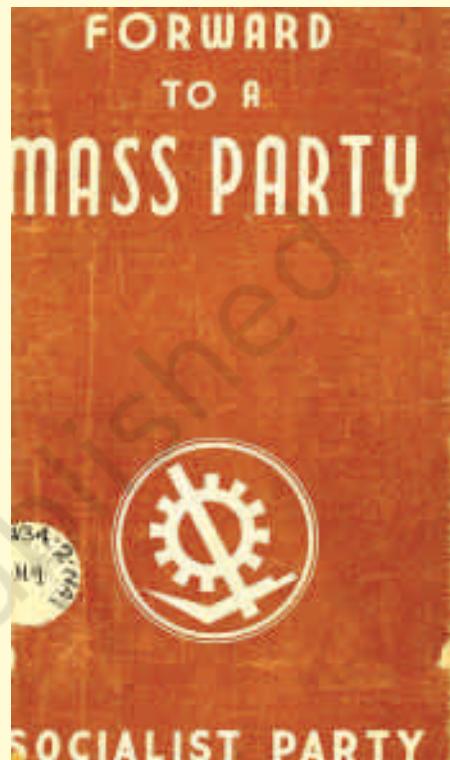
सोशलिस्ट पार्टी

सोशलिस्ट पार्टी की जड़ों को आजादी से पहले के उस वक्त में ढूँढ़ा जा सकता है जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जनआंदोलन चला रही थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन खुद कांग्रेस के भीतर 1934 में युवा नेताओं की एक टोली ने किया था। ये नेता कांग्रेस को ज्यादा-से-ज्यादा परिवर्तनकारी और समतावादी बनाना चाहते थे। 1948 में कांग्रेस ने अपने संविधान में बदलाव किया। यह बदलाव इसलिए किया गया था ताकि कांग्रेस के सदस्य दोहरी सदस्यता न धारण कर सकें। इस वजह से कांग्रेस के समाजवादियों को मजबूरन 1948 में अलग होकर सोशलिस्ट पार्टी बनानी पड़ी। सोशलिस्ट पार्टी चुनावों में कुछ खास कामयाबी हासिल नहीं कर सकी। इससे पार्टी के समर्थकों को बड़ी निराशा हुई। हालाँकि सोशलिस्ट पार्टी की मौजूदगी हिंदुस्तान के अधिकतर राज्यों में थी लेकिन पार्टी को चुनावों में छिटपुट सफलता ही मिली।



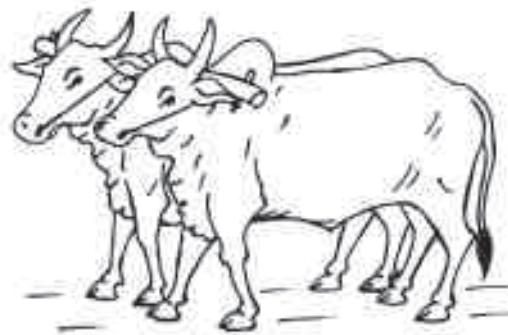
समाजवादी लोकतांत्रिक समाजवाद की विचारधारा में विश्वास करते थे और इस आधार पर वे कांग्रेस तथा साम्प्रदायी (कम्युनिस्ट) दोनों से अलग थे। वे कांग्रेस की आलोचना करते थे कि वह पूँजीपतियों और जर्मीदारों का पक्ष ले रही है और मजदूरों-किसानों की उपेक्षा कर रही है। समाजवादियों को 1955 में दुविधा की स्थिति का सामना करना पड़ा क्योंकि कांग्रेस ने घोषणा कर दी कि उसका लक्ष्य समाजवादी बनावट वाले समाज की रचना है। ऐसे में समाजवादियों के लिए खुद को कांग्रेस का कारण विकल्प बनाकर पेश करना मुश्किल हो गया। राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में कुछ समाजवादियों ने कांग्रेस से अपनी दूरी बढ़ायी और कांग्रेस की आलोचना की। कुछ अन्य समाजवादियों मसलन अशोक मेहता ने कांग्रेस से हल्के-फुल्के सहयोग की तरफदारी की।

सोशलिस्ट पार्टी के कई टुकड़े हुए और कुछ मामलों में बहुधा मेल भी हुआ। इस प्रक्रिया में कई समाजवादी दल बने। इन दलों में, किसान मजदूर प्रजा पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का नाम लिया जा सकता है। जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देव, राममनोहर लोहिया और एस.एम. जोशी समाजवादी दलों के नेताओं में प्रमुख थे। मौजूदा हिंदुस्तान के कई दलों जैसे समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल (यूनाइटेड) और जनता दल (सेक्युलर) पर सोशलिस्ट पार्टी की छाप देखी जा सकती है।



कांग्रेस के प्रभुत्व की प्रकृति

भारत ही एकमात्र ऐसा देश नहीं है जो एक पार्टी के प्रभुत्व के दौर से गुजरा हो। अगर हम दुनिया के बाकी मुल्कों पर नजर ढौड़ाएँ तो हमें एक पार्टी के प्रभुत्व के बहुत-से उदाहरण मिलेंगे। बहरहाल, बाकी मुल्कों में एक पार्टी के प्रभुत्व और भारत में एक पार्टी के प्रभुत्व के बीच एक बड़ा भारी फर्क है। बाकी मुल्कों में एक पार्टी का प्रभुत्व लोकतंत्र की कीमत पर कायम हुआ। कुछ देशों में सलन चीन, क्यूबा और सीरिया के सर्विधान में सिर्फ एक ही पार्टी को देश के शासन की अनुमति दी गई है। कुछ और देशों जैसे स्थान्मार, बेलारूस और इरीट्रिया में एक पार्टी का प्रभुत्व कानूनी और सैन्य उपायों के चलते कायम हुआ है। अब से कुछ साल पहले तक मैक्सिको, दक्षिण कोरिया और ताईवान भी एक पार्टी के प्रभुत्व वाले देश थे। भारत में कायम एक पार्टी का प्रभुत्व इन उदाहरणों से कहीं अलग है। यहाँ एक पार्टी का प्रभुत्व लोकतांत्रिक स्थितियों में कायम हुआ। अनेक पार्टियों ने मुक्त और निष्पक्ष चुनाव के माहौल में एक-दूसरे से होड़ की और तब भी कांग्रेस पार्टी एक के बाद एक चुनाव जीती गई। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति के बाद अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस का भी कुछ



इंस्टीट्यूशनल रिवोल्यूशनरी पार्टी (स्पेनिश में इसे पीआरआई कहा जाता है) का मैक्सिको में लगभग साठ सालों तक शासन रहा। इस पार्टी की स्थापना 1929 में हुई थी। तब इसे नेशनल रिवोल्यूशनरी पार्टी कहा जाता था। इसे मैक्सिकन क्रांति की विरासत हासिल थी। मूल रूप से पीआरआई में राजनेता और सैनिक-नेता, मज़दूर और किसान संगठन तथा अनेक राजनीतिक दलों समेत कई किस्म के हितों का संगठन था। समय बीतने के साथ पीआरआई के संस्थापक प्लूटोकॉर्स इलियास कैलस ने इसके संगठन पर कब्जा जमा लिया और इसके बाद नियमित रूप से होने वाले चुनावों में हर बार पीआरआई ही विजयी होती रही। बाकी पार्टियाँ बस नाम की थीं ताकि शासक दल को वैधता मिलती रहे। चुनाव के नियम इस तरह तय किए गए कि पीआरआई की जीत हर बार पक्की हो सके। शासक दल ने अकसर चुनावों में हेर-फेर और धाँधली की। पीआरआई के शासन को 'परिपूर्ण तानाशाही' कहा जाता है। आखिरकार सन् 2000 में हुए राष्ट्रपति पद के चुनाव में यह पार्टी हारी। मैक्सिको अब एक पार्टी के दबदबे वाला देश नहीं रहा। बहरहाल, अपने दबदबे के दौर में पीआरआई ने जो दाँव-पेंच अपनाए थे उनका लोकतंत्र की सेहत पर बड़ा खराब असर पड़ा है। स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव की बात पर अब भी नागरिकों का पूरा विश्वास नहीं जम पाया है।



बाबा साहब भीमराव रामजी अंबेडकर (1891-1956): जाति विरोधी आंदोलन के नेता और दलितों को न्याय दिलाने के संघर्ष के अगुआ; विद्वान और बुद्धिजीवी; इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के संस्थापक; बाद में शिड्यूल कास्ट्स फेडरेशन की स्थापना; रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया के गठन के योजनाकार; दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान वायसराय की कार्डिसिल में सदस्य; सर्विधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष; आजादी के बाद नेहरू के पहले मंत्रिमंडल में मंत्री; हिंदू कोड बिल के मुद्दे पर अपनी असहमति दर्ज कराते हुए 1951 में इस्तीफा; 1956 में अपने हजारों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म अपनाया।



रफी अहमद किदवई
(1894-1954) : उत्तर प्रदेश से कांग्रेस के नेता, प्रांतीय सरकार (1937) में मंत्री; 1946 में दोबारा मंत्री बने, स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में सचार मंत्री; खाद्य एवं कृषि मंत्री (1952-54)

पहले हमने एक ही पार्टी के भीतर गठबंधन देखा और अब पार्टियों के बीच गठबंधन होता देख रहे हैं। क्या इसका मतलब यह हुआ कि गठबंधन सरकार 1952 से ही चल रही है?



ऐसा ही दबदबा कायम हुआ है। भारत का उदाहरण बहुत कुछ दक्षिण अफ्रीका से मिलता-जुलता है।

कांग्रेस पार्टी की इस असाधारण सफलता की जड़ें स्वाधीनता-संग्राम की विरासत में हैं। कांग्रेस पार्टी को राष्ट्रीय आंदोलन के वारिस के रूप में देखा गया। आजादी के आंदोलन में अग्रणी रहे अनेक नेता अब कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ रहे थे। कांग्रेस पहले से ही एक सुसंगठित पार्टी थी। बाकी दल अभी अपनी रणनीति सोच ही रहे होते थे कि कांग्रेस अपना अभियान शुरू कर देती थी। दरअसल, अनेक पार्टियों का गठन स्वतंत्रता के समय के आस-पास अथवा उसके बाद में हुआ। कांग्रेस को 'अब्बल और एकलौता' होने का फायदा मिला। आजादी के वक्त तक यह पार्टी देश में चहुँ ओर फैल चुकी थी। आप यह बात दिए गए मानचित्र में देख चुके हैं। फिर, इस पार्टी के संगठन का नेटवर्क स्थानीय स्तर तक पहुँच चुका था। सबसे बड़ी बात यह थी कि कांग्रेस हाल-फिलहाल तक आजादी के आंदोलन की अगुआ रही थी और उसकी प्रकृति सबको समेटकर मेलजोल के साथ चलने की थी।

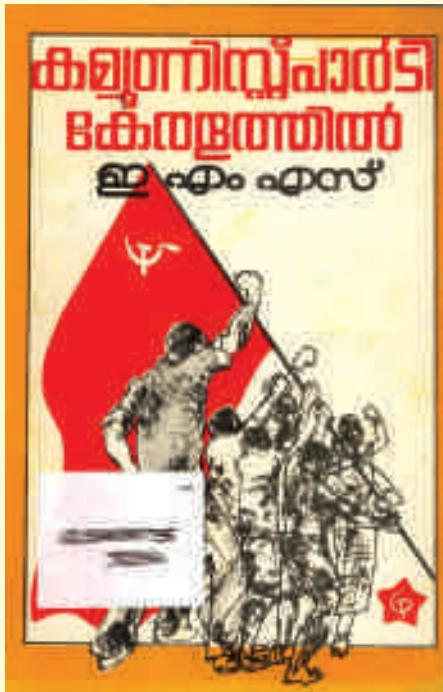
कांग्रेस एक सामाजिक और विचारधारात्मक गठबंधन के रूप में

आप यह बात पढ़ चुके हैं कि कांग्रेस का जन्म 1885 में हुआ था। उस वक्त यह नवशिक्षित, कामकाजी और व्यापारिक वर्गों का एक हित-समूह भर थी लेकिन 20वीं सदी में इसने जनआंदोलन का रूप ले लिया। इस बजह से कांग्रेस ने एक जनव्यापी राजनीतिक पार्टी का रूप लिया और राजनीतिक-व्यवस्था में इसका दबदबा कायम हुआ। शुरू-शुरू में कांग्रेस में अँग्रेजीदाँ, अगड़ी जाति, ऊँचले मध्यवर्ग और शहरी अभिजन का बोलबाला था। लेकिन कांग्रेस ने जब भी सविनय अवज्ञा जैसे आंदोलन चलाए उसका सामाजिक आधार बढ़ा। कांग्रेस में किसान और उद्योगपति, शहर के बांशिदे और गाँव के निवासी, मजदूर और मालिक एवं मध्य, निम्न और उच्च वर्ग तथा जाति सबको जगह मिली। धीरे-धीरे कांग्रेस का नेतृवर्ग भी विस्तृत हुआ। इसका नेतृवर्ग अब उच्च वर्ग या जाति के पेशेवर लोगों तक ही सीमित नहीं रहा। इसमें खेती-किसानी की बुनियाद वाले तथा गाँव-गिरान की तरफ रुझान रखने वाले नेता भी उभरे। आजादी के समय तक कांग्रेस एक सतरंगे सामाजिक गठबंधन की शक्ति अखिलयार कर चुकी थी और वर्ग, जाति, धर्म, भाषा तथा अन्य हितों के आधार पर इस सामाजिक गठबंधन से भारत की विविधता की नुमाइंदगी हो रही थी।

इनमें से अनेक समूहों ने अपनी पहचान को कांग्रेस के साथ एकमेक कर दिया। कई बार यह भी हुआ कि किसी समूह ने अपनी पहचान को कांग्रेस के साथ एकसार नहीं किया और अपने-अपने विश्वासों को मानते हुए बतौर एक व्यक्ति या समूह के कांग्रेस के भीतर बने रहे। इस अर्थ में कांग्रेस एक विचारधारात्मक गठबंधन भी थी। कांग्रेस ने अपने अंदर क्रांतिकारी और शांतिवादी, कंजरवेटिव और रेडिकल, गरमपंथी और नरमपंथी, दक्षिणपंथी, बामपंथी और हर धारा के मध्यमार्गियों को समाहित किया। कांग्रेस एक मंच की तरह थी, जिस पर अनेक समूह, हित और राजनीतिक दल तक आ जुटते थे और राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते थे। आजादी से पहले के वक्त में अनेक संगठन और पार्टियों को कांग्रेस में रहने की इजाजत थी।



कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया



1920 के दशक के शुरुआती सालों में भारत के विभिन्न हिस्सों में साम्यवादी-समूह (कम्युनिस्ट ग्रुप) उभरे। ये रूस की बोल्शेविक क्रांति से प्रेरित थे और देश की समस्याओं के समाधान के लिए साम्यवाद की राह अपनाने की तरफदारी कर रहे थे। 1935 से साम्यवादियों ने मुख्यतया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दायरे में रहकर काम किया। कांग्रेस से साम्यवादी 1941 के दिसंबर में अलग हुए। इस समय साम्यवादियों ने नाजी जर्मनी के खिलाफ लड़ रहे ब्रिटेन को समर्थन देने का फैसला किया। दूसरी गैर-कांग्रेसी पार्टियों के विपरीत कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के पास आजादी के समय एक सुचारू पार्टी मशीनरी और समर्पित कॉडर मौजूद थे। बहरहाल, आजादी हासिल होने पर इस पार्टी के भीतर कई स्वर उभरे। इस पार्टी के सामने मुख्य सवाल यह था कि आखिर जो आजादी देश को हासिल हुई है उसकी प्रकृति कैसी है? क्या हिंदुस्तान सचमुच आजाद हुआ है या यह आजादी झूटी है?

आजादी के तुरंत बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विचार था कि 1947 में सत्ता का जो हस्तांतरण हुआ वह सच्ची आजादी नहीं थी। इस विचार के साथ पार्टी ने तेलंगाना

में हिंसक विद्रोह को बढ़ावा दिया। साम्यवादी अपनी बात के पक्ष में जनता का समर्थन हासिल नहीं कर सके और इन्हें सशस्त्र सेनाओं द्वारा दबा दिया गया। मजबूरन् इन्हें अपने पक्ष को लेकर पुनर्विचार करना पड़ा। 1951 में साम्यवादी पार्टी ने हिंसक क्रांति का रास्ता छोड़ दिया और आने वाले आम चुनावों में भाग लेने का फैसला किया। पहले आम चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 16 सीटें जीतीं और वह सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी बनकर उभरी। इस दल को ज्यादातर समर्थन आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार और केरल में मिला।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेताओं में ए.के. गोपालन, एस.ए. डांगे, ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद, पी.सी. जोशी, अजय घोष और पी. सुंदरैया के नाम लिए जाते हैं। चीन और सोवियत संघ के बीच विचारधारात्मक अंतर आने के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1964 में एक बड़ी टूट का शिकार हुई। सोवियत संघ की विचारधारा को ठीक मानने वाले भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में रहे जबकि इसके विरोध में राय रखने वालों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) या सीपीआई (एम) नाम से अलग दल बनाया। ये दोनों दल आज तक कायम हैं।



ए.के. गोपालन (1904-1977):
केरल के कम्युनिस्ट नेता, राजनीतिक जीवन का आरंभ कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में; 1939 में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल। 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी) में शामिल और पार्टी की मजबूती के लिए कार्य, सांसद के रूप में विशेष ख्याति; 1952 से सांसद।

सिंहासन



यह मराठी फिल्म अरुण साधु के दो उपन्यासों- 'सिंहासन' तथा 'मुंबई दिनाक' पर आधारित है। फिल्म में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री पद के लिए होने वाली रस्साकशी को दर्शाया गया है। फिल्म की कहानी को एक पत्रकार दिघु टिप्पणी बयान करता है जो दर्शकों के सामने एक मौन सूत्रधार के रूप में आता है। यह फिल्म सत्तारूढ़ दल के भीतर चलने वाले सत्ता संघर्ष और उसमें विपक्षी दल की भूमिका को प्रभावशाली ढंग से बयान करती है।

फिल्म की कहानी कुछ इस तरह चलती है। वित्तमंत्री विश्वास राव दभाडे सत्तारूढ़ मुख्यमंत्री को अपदस्थ करने की तिकड़म में लगा है। मुख्यमंत्री और वित्तमंत्री दोनों ही मजदूर नेता डिकोस्टा को अपनी तरफ करना चाहते हैं। गुटबंदी की इस लड़ाई में अन्य नेता दोनों धड़ों से सौदेबाजी करने में लगे हैं। फिल्म में पद-लोलुपता की इस लड़ाई के साथ मुंबई के तस्करी कारोबार और राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में हर दिन बनते-बिगड़ते सामाजिक हालात को भी खूबसूरती से पिरोया गया है।

वर्ष : 1981

निर्देशक : जब्बार पटेल

पटकथा : विजय तेंदुलकर

अभिनय : नीलू फुले, अरुण सरनाईक, डॉ. श्रीराम लागू, सतीश दुबाशी, दत्ता भट्ट, मधुकर तोरड़मला, माधव वाटवे, मोहन अगाशे

हालाँकि इन संगठनों और पार्टीयों के अपने-अपने संविधान थे। इनका सांगठनिक ढाँचा भी अलग था। इनमें से कुछ (मसलन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी) बाद में कांग्रेस से अलग हो गए और विपक्षी दल बने। किसी खास पद्धति, कार्यक्रम या नीति को लेकर मौजूद मतभेदों को कांग्रेस पार्टी सुलझा भले न पाए लेकिन उन्हें अपने आप में मिलाए रखती थी और एक आम सहमति कायम कर ले जाती थी।

गुटों में तालमेल और सहनशीलता

कांग्रेस के गठबंधनी स्वभाव ने उसे एक असाधारण ताकत दी। पहली बात तो यही कि जो भी आए, गठबंधन उसे अपने में शामिल कर लेता है। इस कारण गठबंधन को अतिवादी रुख अपनाने से बचना होता है और हर मसले पर संतुलन को साधकर चलना पड़ता है। सुलह-समझौते के रास्ते पर चलना और सर्व-समावेशी होना गठबंधन की विशेषता होती है। इस रणनीति की बजह से विपक्ष कठिनाई में पड़ा। विपक्ष कोई बात कहना चाहे तो कांग्रेस की विचारधारा और कार्यक्रम में उसे तुरंत जगह मिल जाती थी। दूसरे, अगर किसी पार्टी का स्वभाव गठबंधनी हो तो अंदरूनी मतभेदों को लेकर उसमें सहनशीलता भी ज्यादा होती है। विभिन्न समूह और नेताओं की महत्वाकांक्षाओं की भी उसमें समाई हो जाती है। कांग्रेस ने आजादी की लड़ाई के दौरान इन दोनों ही बातों पर अमल किया था और आजादी मिलने के बाद भी इस पर अमल जारी रखा। इसी कारण, अगर कोई समूह पार्टी के रुख से अथवा सत्ता में प्राप्त अपने हिस्से से नाखुश हो तब भी वह पार्टी में ही बना रहता था। पार्टी को छोड़कर विपक्षी की भूमिका अपनाने की जगह पार्टी में मौजूद किसी दूसरे समूह से लड़ने को बेहतर समझता था।

पार्टी के अंदर मौजूद विभिन्न समूह गुट कहे जाते हैं। अपने गठबंधनी स्वभाव के कारण कांग्रेस विभिन्न गुटों के प्रति सहनशील थी और इस स्वभाव से विभिन्न गुटों को बढ़ावा भी मिला। कांग्रेस के विभिन्न गुटों में से कुछ विचारधारात्मक सरोकारों की बजह से बने थे। लेकिन अकसर गुटों के बनने



भारतीय जनसंघ



भारतीय जनसंघ का गठन 1951 में हुआ था। श्यामा प्रसाद मुखर्जी इसके संस्थापक-अध्यक्ष थे। इस दल की जड़ें आजादी के पहले के समय से सक्रिय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) और हिंदू महासभा में खोजी जा सकती हैं।

जनसंघ अपनी विचारधारा और कार्यक्रमों के लिहाज से बाकी दलों से भिन्न है। जनसंघ ने 'एक देश, एक संस्कृति और एक राष्ट्र' के विचार पर जोर दिया। इसका मानना था कि देश भारतीय संस्कृति और परंपरा के आधार पर आधुनिक, प्रगतिशील और ताकतवर बन सकता है। जनसंघ ने भारत और पाकिस्तान को एक करके 'अखंड भारत' बनाने की बात कही। अंग्रेजी को हटाकर हिंदी को राजभाषा बनाने के आंदोलन में यह पार्टी सबसे आगे थी। इसने धार्मिक और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को रियायत देने की बात का विरोध किया। चीन ने 1964 में अपना

आण्विक-परीक्षण किया था। इसके बाद से जनसंघ ने लगातार इस बात की पैरोकारी की कि भारत भी अपने आण्विक हथियार तैयार करे।

1950 के दशक में जनसंघ चुनावी राजनीति के हाशिए पर रहा। इस पार्टी को 1952 के चुनाव में लोकसभा की तीन सीटें पर सफलता मिली और 1957 के आम चुनावों में इसने लोकसभा की 4 सीटें जीतीं। शुरुआती सालों में इस पार्टी को हिंदी-भाषी राज्यों मसलन राजस्थान, मध्य प्रदेश, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के शहरी इलाकों में समर्थन मिला। जनसंघ के नेताओं में श्यामा प्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय और बलराज मधोक के नाम शामिल हैं। भारतीय जनता पार्टी की जड़ें इसी जनसंघ में हैं।



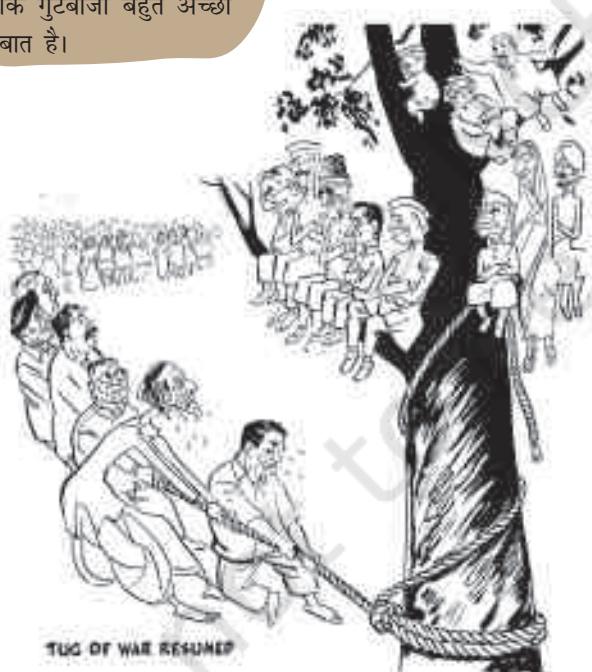
दीन दयाल उपाध्याय
(1916-1968) : 1942 से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्ता; भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य; भारतीय जनसंघ में पहले महासचिव फिर अध्यक्ष; समग्र मानवतावाद सिद्धांत के प्रणेता।

के पीछे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा तथा प्रतिस्पर्धा की भावना भी काम करती थी। ऐसे में अंदरूनी गुटबाजी कांग्रेस की कमज़ोरी बनने की बजाय उसकी ताकत साबित हुई। चूंकि पार्टी के भीतर विभिन्न गुटों की आपसी होड़ के लिए गुंजाइश थी इसलिए विभिन्न हित और विचारधाराओं की नुमाइंदगी कर रहे नेता कांग्रेस के भीतर ही बने रहे। पार्टी से बाहर निकलकर नई पार्टी बनाने को इन्होंने बेहतर नहीं समझा।



मैं गुटबंदी को एक तरह का रोग समझती थी और मानती थी कि इसे दूर किया जाना चाहिए। यहाँ कहीं गई बातों से तो ऐसा लगता है, जैसे कि गुटबाजी बहुत अच्छी बात है।

कांग्रेस की अधिकतर प्रांतीय इकाइयों विभिन्न गुटों को मिलाकर बनी थीं। ये गुट अलग-अलग विचारधारात्मक रुख़ अपनाते थे और कांग्रेस एक भारी-भरकम मध्यमार्गी पार्टी के रूप में उभरकर सामने आती थी। दूसरी पार्टियाँ मुख्यतः कांग्रेस के इस या उस गुट को प्रभावित करने की कोशिश करती थीं। इस तरह बाकी पार्टियाँ हाशिए पर रहकर ही नीतियों और फ़ैसलों को अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित कर पाती थीं। ये पार्टियाँ सत्ता के वास्तविक इस्तेमाल से कोसों दूर थीं। शासक दल का कोई विकल्प नहीं था। इसके बावजूद विपक्षी पार्टियाँ लगातार कांग्रेस की आलोचना करती थीं, उस पर दबाव डालती थीं और इस क्रम में उसे प्रभावित करती थीं। गुटों की मौजूदगी की यह प्रणाली शासक-दल के भीतर संतुलन साधने के एक औजार की तरह काम करती थी। इस तरह राजनीतिक होड़ कांग्रेस के भीतर ही चलती थी। इस अर्थ में देखें तो चुनावी प्रतिस्पर्धा के पहले दशक में कांग्रेस ने शासक-दल की भूमिका निभायी और विपक्ष की भी। इसी कारण भारतीय राजनीति के इस कालखंड को 'कांग्रेस-प्रणाली' कहा जाता है।



रस्साकसी (29 अगस्त, 1954) इस कार्टून में सरकार और विपक्षी दलों की ताकत की तुलना की गई है। कार्टून में दर्शाए गए पेड़ पर नेहरू और उनके कैबिनेट सहयोगी बैठे हैं। पेड़ के नीचे विपक्षी नेताओं-ए.के. गोपालन, आचार्य कृपलानी, एन. सी. चटर्जी, श्रीकांतन नायर और सरदार हुकुम सिंह को दिखाया गया है। विपक्षी नेता पेड़ को गिराने की कोशिश कर रहे हैं।

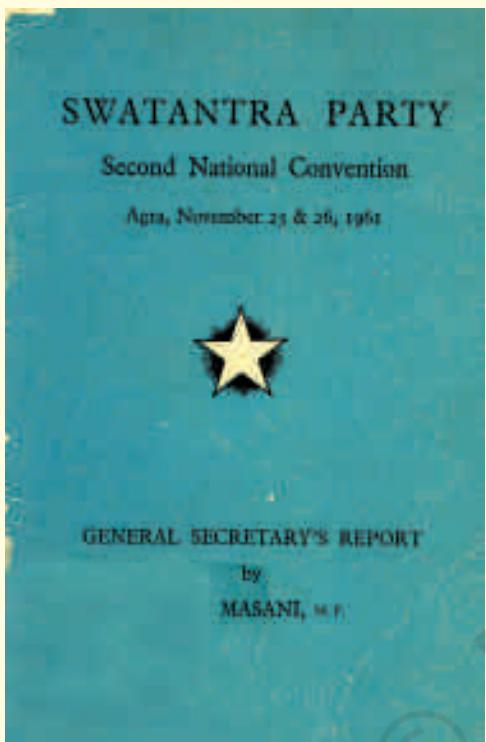
विपक्षी पार्टियों का उद्भव

जैसा कि हमने ऊपर देखा, ऐसा नहीं था कि इस दौर में भारत में विपक्षी पार्टियाँ नहीं थीं। चुनाव-परिणामों की चर्चा में हमारे सामने कांग्रेस के अलावा अन्य पार्टियों के नाम भी आए। बहुदलीय लोकतंत्र वाले अन्य अनेक देशों की तुलना में उस वक्त भी भारत में बहुविध और जीवन्त विपक्षी पार्टियाँ थीं। इनमें से कई पार्टियाँ 1952 के आम चुनावों से कहीं पहले बन चुकी थीं। इनमें से कुछ ने 'साठ' और 'सत्तर' के दशक में देश की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आज की लगभग सभी गैर-कांग्रेसी पार्टियों की जड़ें 1950 के दशक की किसी न किसी विपक्षी पार्टी में खोजी जा सकती हैं।

1950 के दशक में इन सभी विपक्षी दलों को लोकसभा अथवा विधानसभा में कहने भर को प्रतिनिधित्व मिल पाया। फिर भी, इन दलों की मौजूदगी ने हमारी शासन-व्यवस्था के लोकतांत्रिक चरित्र को बनाए रखने में निर्णायक भूमिका निभायी। इन दलों ने कांग्रेस पार्टी की नीतियों और व्यवहारों की सुचिनित आलोचना की। इस आलोचना में सिद्धांतों का बल होता था। विपक्षी दलों ने शासक-दल पर अंकुश रखा और बहुधा इन दलों के कारण कांग्रेस पार्टी के भीतर शक्ति-संतुलन बदला। इन दलों ने लोकतांत्रिक राजनीतिक विकल्प की संभावना को



स्वतंत्र पार्टी



कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में जमीन की हदबंदी, खाद्यान्न के व्यापार, सरकारी अधिग्रहण और सहकारी खेती का प्रस्ताव पास हुआ था। इसी के बाद 1959 के अगस्त में स्वतंत्र पार्टी अस्तित्व में आई। इस पार्टी का नेतृत्व सी. राजगोपालाचारी, के.एम. मुंशी, एन.जी. रंगा और मीनू मसानी जैसे पुराने कांग्रेस नेता कर रहे थे। यह पार्टी अर्थिक मसलों पर अपनी खास किस्म की पक्षधरता के कारण दूसरी पार्टियों से अलग थी।

स्वतंत्र पार्टी चाहती थी कि सरकार अर्थव्यवस्था में कम से कमतर हस्तक्षेप करे। इसका मानना था कि समृद्धि सिर्फ व्यक्तिगत स्वतंत्रता के जरिए आ सकती है। स्वतंत्र पार्टी अर्थव्यवस्था में विकास के नजरिए से किए जा रहे राजकीय हस्तक्षेप, केंद्रीकृत नियोजन, राष्ट्रीयकरण और अर्थव्यवस्था के भीतर सार्वजनिक-क्षेत्र की मौजूदगी को आलोचना की निगाह से देखती थी। यह पार्टी अर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों के हित को ध्यान में रखकर किए जा रहे कराधान के भी खिलाफ थी। इस दल ने निजी क्षेत्र को खुली छूट देने की तरफदारी की। स्वतंत्र पार्टी कृषि में जमीन की हदबंदी, सहकारी खेती और खाद्यान्न के व्यापार पर सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध थी। यह दल गुटनिरपेक्षका की नीति और सोवियत संघ से दोस्ताना रिश्ते कायम रखने को भी गलत मानती थी। इसने संयुक्त राज्य अमरिका से नजदीकी संबंध बनाने की वकालत की। अनेक क्षेत्रीय पार्टियों और हिंदूओं के साथ मेल करने के कारण स्वतंत्र पार्टी देश के विभिन्न हिस्सों में ताकतवर हुई। स्वतंत्र पार्टी की तरफ मुख्य रूप से जमींदार और राजे-महाराजे आकर्षित हुए। भूमि-सुधार के कानूनों से इनकी मिल्कियत और हैसियत को खतरा मँडरा रहा था और इससे बचने के लिए इन लोगों ने स्वतंत्र पार्टी का दामन थामा। उद्योगपति और व्यवसायी-वर्ग के लोग राष्ट्रीयकरण और लाइसेंस-नीति के खिलाफ थे। इन लोगों ने भी स्वतंत्र पार्टी का समर्थन किया। इस पार्टी का सामाजिक आधार बड़ा संकुचित था और इसके पास पार्टी-सदस्य के रूप में समर्पित कॉडर की कमी थी। इस वजह से यह पार्टी अपना मजबूत सांगठनिक नेटवर्क खड़ा नहीं कर पाई।

स्वतंत्र पार्टी चाहती थी कि सरकार अर्थव्यवस्था में कम से कमतर हस्तक्षेप करे। इसका मानना था कि समृद्धि सिर्फ व्यक्तिगत स्वतंत्रता के जरिए आ सकती है। स्वतंत्र पार्टी अर्थव्यवस्था में विकास के नजरिए से किए जा रहे राजकीय हस्तक्षेप, केंद्रीकृत नियोजन, राष्ट्रीयकरण और अर्थव्यवस्था के भीतर सार्वजनिक-क्षेत्र की मौजूदगी को आलोचना की निगाह से देखती थी। यह पार्टी अर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों के हित को ध्यान में रखकर किए जा रहे कराधान के भी खिलाफ थी। इस दल ने निजी



सी. राजगोपालाचारी
(1878-1972) : कांग्रेस के वरिष्ठ नेता और साहित्यकार; महात्मा गांधी के करीबी; संविधान सभा के सदस्य; स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर-जनरल (1948-1950) बने; आजादी के बाद बने अंतरिम केंद्र सरकार में मंत्री; बाद में मद्रास के मुख्यमंत्री; भारत रत्न से सम्मानित पहले भारतीय; स्वतंत्र पार्टी (1959) के संस्थापक।

“ कांग्रेस के सदस्य टंडन के निर्वाचन को सरकार या कांग्रेस में मेरी मौजूदगी से ज्यादा महत्वपूर्ण समझते हैं, किर..... कांग्रेस और सरकार के भीतर मैं पूरी तरह अप्रासारिक हो चुका हूँ। ”

कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर टंडन की जीत के बाद राजाजी को लिखे गए एक पत्र में जवाहरलाल नेहरू का वक्तव्य।

जीवित रखा। ऐसा करके इन दलों ने व्यवस्थाजन्य रोष को लोकतंत्र-विरोधी बनने से रोका। इन दलों ने ऐसे नेता तैयार किए जिन्होंने आगे के समय में हमारे देश की तस्वीर को संवारने में अहम भूमिका निभायी।

शुरुआती सालों में कांग्रेस और विपक्षी दलों के नेताओं के बीच पारस्परिक सम्मान का गहरा भाव था। स्वतंत्रता की उद्घोषणा के बाद अंतरिम सरकार ने देश का शासन सँभाला था। इसके मंत्रिमंडल में डॉ. अंबेडकर और श्यामा प्रसाद मुखर्जी जैसे विपक्षी नेता शामिल थे। जवाहरलाल नेहरू अक्सर सोशलिस्ट पार्टी के प्रति अपने प्यार का इजहार करते थे। उन्होंने जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी नेताओं को सरकार में शामिल होने का न्यौता दिया। अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी से इस किस्म का निजी रिश्ता और उसके प्रति सम्मान का भाव दलगत प्रतिस्पर्धा के तेज होने के बाद लगातार कम होता गया।

इस तरह अपने देश में लोकतांत्रिक राजनीति का पहला दौर एकदम अनूठा था। राष्ट्रीय आंदोलन का चरित्र समावेशी था। इसकी अगुआई कांग्रेस ने की थी। राष्ट्रीय आंदोलन के इस चरित्र के कारण कांग्रेस की तरफ विभिन्न समूह, वर्ग और हितों के लोग आकर्षित



1948 में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के गवर्नर-जनरल के पद की शपथ ग्रहण के बाद नेहरू मंत्रिमंडल। बैठे हुए बाएँ से दाएँ : रफी अहमद किदवई, बलदेव सिंह, मौलाना आज्ञाद, प्रधानमंत्री नेहरू, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभभाई पटेल, राजकुमारी अमृत कौर, जॉन मथाई और जगजीवन राम। खड़े हुए बाएँ से दाएँ : श्री गाडगिल, श्री नियोगी, डॉ. अंबेडकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, गोपालास्वामी आयंगर और जयरामदास दौलतराम।

चलो! चलो! सभा देखने चलो!

सोशलिस्ट पार्टी की सभा की खबर ने संथालटोली को विशेष रूप से आलोड़ित किया है। गाँव में अस्पताल खुलने की खुशखबरी की कोई खास प्रतिक्रिया संथालों पर नहीं। लेकिन यह सभा? जमीन जोतने वालों की?...

“जमीन किसकी?... जोतनेवालों की! जो जोतेगा वह बोएगा, जो बोएगा वह काटेगा। कमानेवाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो! कालीचरन समझा रहा है।”

“दो भैंस की लड़ाई में दूब के सिर आफत। कांग्रेस और सुशलिंग अपने में लड़ रहा है। दोनों अपना-अपना मेंबर बनना चाहता है। चक्की के दो पाट में गरीब लोग ही पीसे जाएँगे।”

“गरीब पीसे नहीं जाएँगे, गरीबों की भलाई होगी। एक पाटी रहने से काम नहीं होता है। जब दो दलों में मुकाबला और हिड़िस होता है तो फायदा पबलि का होता है।”

जिला कांग्रेस आफिस में जुलुम हो रहा है। जिला कांग्रेस के सभापति का चुनाव होने वाला है। चार उम्मीदवार हैं, दो असल और दो कम असल। राजपूत भूमिहार में मुकाबिला है। जिले-भर के सेठों और जमीदारों की मोटर लारियाँ दौड़ रही हैं। एक-दूसरे के गड़े मुर्दे उखाड़े जा रहे हैं। कटिहार कॉटन मिलवाले सेठ जी भूमिहार पार्टी में हैं और फारबिसगंज जूट मिलवाले राजपूतों की ओर। ...पैसे का तमाशा कोई यहाँ आकर देखे।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास मैला आँचल के कुछ अंश। इस उपन्यास की कथाभूमि पूर्वोत्तर बिहार का पूर्णिमा ज़िला है और कथाकाल स्वतंत्रता के बाद के वर्ष।



फणीश्वरनाथ रेणु

हुए। सामाजिक और विचारधारात्मक रूप से कांग्रेस एक व्यापक गठबंधन के रूप में उभरी। आजादी की लड़ाई में कांग्रेस ने मुख्य भूमिका निभायी थी और इस कारण कांग्रेस को दूसरी पार्टियों की अपेक्षा बढ़त प्राप्त थी। सत्ता पाने की लालसा रखने वाले हर व्यक्ति और हर हित-समूह को अपने अंदर समाहित करने की कांग्रेस की क्षमता जैसे-जैसे घटी वैसे-वैसे दूसरे राजनीतिक दलों को महत्व मिलना शुरू हुआ। इस तरह कांग्रेस का प्रभुत्व देश की राजनीति के सिफ़े एक दौर में रहा। इस किताब के आगे के हिस्सों में हम देश की राजनीति के अन्य दौर की चर्चा करेंगे।

श्यामा प्रसाद मुख्जी

(1901-1953) : हिंदू महासभा के नेता; भारतीय जनसंघ के संस्थापक; स्वतंत्रता के बाद नेहरू के पहले मर्तिमंडल में मंत्री; पाकिस्तान के साथ संबंधों को लेकर अपने मतभेदों के चलते 1950 में इस्तीफा; सर्विधान सभा के सदस्य; लोकसभा सदस्य; कश्मीर को स्वायत्ता देने के खिलाफ़; कश्मीर नीति पर जनसंघ के प्रदर्शन के दौरान गिरफ्तार; हिरासत में मौत।



प्रश्नों का उत्तर

1. सही विकल्प को चुनकर खाली जगह को भरें:
 - (क) 1952 के पहले आम चुनाव में लोकसभा के साथ-साथ _____ के लिए भी चुनाव कराए गए थे। (भारत के राष्ट्रपति पद/राज्य विधानसभा/राज्यसभा/प्रधानमंत्री)
 - (ख) _____ लोकसभा के पहले आम चुनाव में 16 सीटें जीतकर दूसरे स्थान पर रही। (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी/भारतीय जनसंघ/भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी/भारतीय जनता पार्टी)
 - (ग) _____ स्वतंत्र पार्टी का एक निर्देशक सिद्धांत था। (कामगार तबके का हित/रियासतों का बचाव/राज्य के नियंत्रण से मुक्त अर्थव्यवस्था/संघ के भीतर राज्यों की स्वायत्तता)
2. यहाँ दो सूचियाँ दी गई हैं। पहले में नेताओं के नाम दर्ज हैं और दूसरे में दलों के। दोनों सूचियों में मेल बैठाएँ:

| | |
|--|--|
| (क) एस.ए. डांगे (ख) श्यामा प्रसाद मुखर्जी (ग) मीनू मसानी (घ) अशोक मेहता | (i) भारतीय जनसंघ (ii) स्वतंत्र पार्टी (iii) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (iv) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी |
|--|--|
3. एकल पार्टी के प्रभुत्व के बारे में यहाँ चार बयान लिखे गए हैं। प्रत्येक के आगे सही या गलत का चिह्न लगाएँ:
 - (क) विकल्प के रूप में किसी मजबूत राजनीतिक दल का अभाव एकल पार्टी-प्रभुत्व का कारण था।
 - (ख) जनमत की कमजोरी के कारण एक पार्टी का प्रभुत्व कायम हुआ।
 - (ग) एकल पार्टी-प्रभुत्व का संबंध राष्ट्र के औपनिवेशिक अतीत से है।
 - (घ) एकल पार्टी-प्रभुत्व से देश में लोकतांत्रिक आदर्शों के अभाव की झलक मिलती है।
4. अगर पहले आम चुनाव के बाद भारतीय जनसंघ अथवा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार बनी होती तो किन मामलों में इस सरकार ने अलग नीति अपनाई होती? इन दोनों दलों द्वारा अपनाई गई नीतियों के बीच तीन अंतरों का उल्लेख करें।
5. कांग्रेस किन अर्थों में एक विचारधारात्मक गठबंधन थी? कांग्रेस में मौजूद विभिन्न विचारधारात्मक उपस्थितियों का उल्लेख करें।
6. क्या एकल पार्टी प्रभुत्व की प्रणाली का भारतीय राजनीति के लोकतांत्रिक चरित्र पर खराब असर हुआ?
7. समाजवादी दलों और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच के तीन अंतर बताएँ। इसी तरह भारतीय जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी के बीच के तीन अंतरों का उल्लेख करें।
8. भारत और मैक्सिको दोनों ही देशों में एक खास समय तक एक पार्टी का प्रभुत्व रहा। बताएँ कि मैक्सिको में स्थापित एक पार्टी का प्रभुत्व कैसे भारत के एक पार्टी के प्रभुत्व से अलग था?

9. भारत का एक राजनीतिक नक्शा लीजिए (जिसमें राज्यों की सीमाएँ दिखाई गई हों) और उसमें निम्नलिखित को चिह्नित कीजिए:

(क) ऐसे दो राज्य जहाँ 1952-67 के दौरान कांग्रेस सत्ता में नहीं थी।

(ख) दो ऐसे राज्य जहाँ इस पूरी अवधि में कांग्रेस सत्ता में रही।

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़कर इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

कांग्रेस के संगठनकर्ता पटेल कांग्रेस को दूसरे राजनीतिक समूह से निःसंग रखकर उसे एक सर्वांगसम तथा अनुशासित राजनीतिक पार्टी बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि कांग्रेस सबको समेटकर चलने वाला स्वभाव छोड़े और अनुशासित कॉडर से युक्त एक सर्वुपक्षित पार्टी के रूप में उभरे। ‘यथार्थवादी’ होने के कारण पटेल व्यापकता की जगह अनुशासन को ज्यादा तरजीह देते थे। अगर “आंदोलन को चलाते चले जाने” के बारे में गाँधी के ख्याल हद से ज्यादा रोमानी थे तो कांग्रेस को किसी एक विचारधारा पर चलने वाली अनुशासित तथा धुरंधर राजनीतिक पार्टी के रूप में बदलने की पटेल की धारणा भी उसी तरह कांग्रेस की उस समन्वयवादी भूमिका को पकड़ पाने में चूक गई जिसे कांग्रेस को आने वाले दशकों में निभाना था।

– रजनी कोठारी

(क) लेखक क्यों सोच रहा है कि कांग्रेस को एक सर्वांगसम तथा अनुशासित पार्टी नहीं होना चाहिए?

(ख) शुरुआती सालों में कांग्रेस द्वारा निभाई गई समन्वयवादी भूमिका के कुछ उदाहरण दीजिए।

खुद करें-खुद समझें

1952 के बाद से अब तक आपके राज्य में जितने चुनाव हुए और सरकारें बनी हैं, उनका एक चार्ट तैयार करें। इस चार्ट में निम्नलिखित शीर्षक रखे जा सकते हैं। चुनाव का वर्ष, जीतने वाले दल का नाम, शासक दल/दलों के नाम, मुख्यमंत्री का नाम...



इस अध्याय में...

आजादी के बाद के शुरुआती दो दशकों में आधुनिक भारत के निर्माण के प्रयास हुए और इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की विकास परियोजनाओं की भूमिका मुख्य रही। इस तरह के डाक-टिकट से इस बात की एक झलक मिलती है। आजकल ऐसे डाक-टिकट कुछ खास देखने में नहीं आते। क्या आप सोच सकते हैं क्यों?

पिछले दो अध्यायों में हमने पढ़ा कि स्वतंत्र भारत के नेताओं ने कैसे राष्ट्र-निर्माण और लोकतंत्र कायम करने की चुनौतियों का सामना किया। आइए, अब तीसरी चुनौती की ओर रुख करें। यह चुनौती आर्थिक विकास की थी, ताकि सबकी भलाई को सुनिश्चित किया जा सके। पहली दो चुनौतियों की तरह हमारे नेताओं ने इस मामले में भी कुछ अलग और तनिक कठिन रास्ता चुना। आर्थिक विकास के मामले में उन्हें एक सीमा तक ही सफलता मिली, क्योंकि आर्थिक विकास की चुनौती कहीं ज्यादा कठिन और गहरी थी।

इस अध्याय में हम आर्थिक विकास के कुछ बुनियादी सवालों पर लिए गए राजनीतिक फ़ैसलों के बारे में पढ़ेंगे। ऐसे कुछ सवाल हैं :

- विकास को लेकर मुख्य बहसें क्या थीं और इनको लेकर कौन-से अहम फ़ैसले हुए?
- पहले दो दशकों में हमारे नेताओं ने कौन-सी रणनीति अपनाई और उन्होंने ऐसा क्यों किया?
- इस रणनीति की मुख्य उपलब्धियाँ क्या रहीं और इसकी सीमाएँ क्या थीं?
- बाद के सालों में इस रणनीति को क्यों छोड़ दिया गया?



121220H83

नियोजित विकास की राजनीति

राजनीतिक फ़ैसले और विकास

इस्पात की विश्वव्यापी माँग बढ़ी तो निवेश के लिहाज से उड़ीसा एक महत्वपूर्ण जगह के रूप में उभरा। उड़ीसा में लौह-अयस्क का विशाल भंडार था और अभी इसका दोहन बाकी था। उड़ीसा की राज्य सरकार ने लौह-अयस्क की इस अप्रत्याशित माँग को भुनाना चाहा। उसने अंतर्राष्ट्रीय इस्पात-निर्माताओं और राष्ट्रीय-स्तर के इस्पात-निर्माताओं के साथ सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर किए। सरकार सोच रही थी कि इससे राज्य में ज़रूरी पूँजी-निवेश भी हो जाएगा और रोजगार के अवसर भी बड़ी संख्या में सामने आएँगे। लौह-अयस्क के ज्यादातर भंडार उड़ीसा के सर्वाधिक अविकसित इलाकों में हैं—खासकर इस राज्य के आदिवासी-बहुल जिलों में। आदिवासियों को डर है कि अगर यहाँ उद्योग लग गए तो उन्हें अपने घर-बार से विस्थापित होना पड़ेगा और आजीविका भी छिन जाएगी। पर्यावरणविदों को इस बात का भय है कि खनन और उद्योग से पर्यावरण प्रदूषित होगा। केंद्र सरकार को लगता है कि अगर उद्योग लगाने की अनुमति नहीं दी गई, तो इससे एक बुरी मिसाल कायम होगी और देश में पूँजी निवेश को बाधा पहुँचेगी।

इस उदाहरण में कई तरह के हित सक्रिय हैं। क्या आप इन हितों को पहचान सकते हैं? ऊपर के उदाहरण में संघर्ष के अहम बिंदु कौन-कौन से हैं? क्या आपको लगता है कि कोई ऐसा बिंदु भी है जिस पर सभी पक्ष राजी हो सकें? क्या इस मसले को इस भाँति सुलझाया जा सकता है कि इससे संबद्ध सभी हितों को संतुष्ट किया जा सके? आप जैसे ही इन सवालों को पूछेंगे तो आपके सामने एक बड़ा सवाल उठ खड़ा होगा—उड़ीसा में किस तरह के विकास की ज़रूरत है? दरअसल, किसकी ज़रूरतों को उड़ीसा की ज़रूरत कहा जाए?

राजनीतिक टकराव

इन सवालों के जवाब कोई विशेषज्ञ नहीं दे सकता। इस तरह के फ़ैसलों में एक सामाजिक-समूह के हितों को दूसरे सामाजिक-समूह के हितों की तुलना में तौला जाता है। साथ ही मौजूदा पीढ़ी के हितों और आने वाली पीढ़ी के हितों को भी लाभ-हानि की तुला पर मापना पड़ता है। किसी भी लोकतंत्र में ऐसे फ़ैसले जनता द्वारा लिए जाने चाहिए या कम-से-कम इन फ़ैसलों पर विशेषज्ञों की स्वीकृति की मुहर ज़रूर होनी चाहिए। खनन, पर्यावरण और अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों की राय जानना महत्वपूर्ण है, लेकिन अंतिम निर्णय निश्चित तौर पर राजनीतिक निर्णय होना चाहिए। जन-प्रतिनिधि जनता की भावनाओं को समझते हैं और जन-प्रतिनिधियों को ही ऐसे फ़ैसले लेने चाहिए।

पोस्को प्लांट : उड़ीसा के ग्रामीण विरोध पर उतारू

कार्यालय संवादाता

भुवनेश्वर: जगतसिंह जिले में प्रस्तावित पोस्को-इडिया इस्पात संयंत्र से विस्थापन का शिकार हुए लोगों ने इस कोरियाई कंपनी के दफ्तर के सामने गुरुवार को विरोध प्रदर्शन किया। यह लोग माँग कर रहे थे कि एक साल पहले कंपनी और उड़ीसा की सरकार के बीच जिस सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर हुए थे उसे रद्द कर दिया जाए।

धिंकिया, नुआंगाँव और गढ़कुञ्जंगा ग्राम पंचायत के एक सौ से भी यादा स्त्री-पुरुषों ने कंपनी के दफ्तर में घुसने की कोशिश की लेकिन पुलिस ने उन्हें रोक दिया। प्रदर्शनकारियों ने नारे लगाए और कहा कि हमारी जीविका और जीवन की कीमत पर कंपनी को इस्पात संयंत्र लगाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इस विरोध प्रदर्शन का आयोजन राष्ट्रीय युवा संगठन और नवनिर्माण समिति ने किया था।

साभार : 'द हिंदू', 23 जून, 2006

क्या है वामपंथ और क्या है दक्षिणपंथ?

जब विभिन्न देशों की राजनीति की बात होती है तो अक्सर वहाँ के राजनीतिक दल अथवा समूहों का हवाला देते हुए कहा जाता है कि इस या उस पार्टी या समूह की विचारधारा वामपंथी अथवा दक्षिणपंथी रुझान वाली है। आपने ऐसा जिक्र ज़रूर ही पढ़ा होगा। ‘दक्षिणपंथ’ अथवा ‘वामपंथ’ शब्द से किसी राजनीतिक दल अथवा समूह के बारे में यह प्रकट होता है कि सामाजिक बदलाव को लेकर वह कौन-सा पक्ष लेगा या आर्थिक पुनर्वितरण में राज्य की भूमिका के बारे में उसकी क्या राय होगी। ‘वामपंथ’ से अमूमन उन लोगों की तरफ संकेत किया जाता है जो गरीब और पिछड़े सामाजिक समूह की तरफदारी करते हैं और इन तबकों को फ़ायदा पहुँचाने वाली सरकारी नीतियों का समर्थन करते हैं। ‘दक्षिणपंथ’ से उन लोगों को इंगित किया जाता है जो यह मानते हैं कि खुली प्रतिस्पर्धा और बाजारमूलक अर्थव्यवस्था के ज़रिए ही प्रगति हो सकती है—यानी सरकार को अर्थव्यवस्था में गैरज़रूरी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

क्या आप बता सकते हैं कि 1960 के दशक में कौन-से राजनीतिक दल वामपंथी और कौन-से दक्षिणपंथी थे? आप इस दौर की कांग्रेस पार्टी को किस तरफ रखेंगे?

आजादी के बाद अपने देश में ऐसे कई फ़ैसले लिए गए। इनमें से कोई भी फ़ैसला बाकी फ़ैसलों से मुँह फेरकर नहीं लिया जा सकता था। सारे के सारे फ़ैसले आपस में आर्थिक विकास के एक मॉडल या यों कहें कि एक ‘विज्ञन’ से बँधे हुए थे। लगभग सभी इस बात पर सहमत थे कि भारत के विकास का अर्थ आर्थिक संवृद्धि और आर्थिक-सामाजिक न्याय दोनों ही हैं। इस बात पर भी सहमति थी कि इस मामले को व्यवसायी, उद्योगपति और किसानों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। सरकार को इस मसले में प्रमुख भूमिका निभानी थी। बहरहाल, आर्थिक-संवृद्धि हो और सामाजिक न्याय भी मिले—इसे सुनिश्चित करने के लिए सरकार कौन-सी भूमिका निभाए? इस सवाल पर मतभेद थे। क्या कोई ऐसा केंद्रीय संगठन ज़रूरी है जो पूरे देश के लिए योजना बनाए? क्या सरकार को कुछ महत्वपूर्ण उद्योग और व्यवसाय खुद चलाने चाहिए? अगर सामाजिक न्याय आर्थिक संवृद्धि की ज़रूरतों के आड़े आता हो तो ऐसी सूरत में सामाजिक-न्याय पर कितना ज़ोर देना उचित होगा?

इनमें से प्रत्येक सवाल पर टकराव हुए जो आज तक जारी हैं। जो फ़ैसले लिए गए उनके राजनीतिक परिणाम सामने आए। इनमें से अधिकतर मसलों पर राजनीतिक रूप से कोई फ़ैसला लेना ही था और इसके लिए राजनीतिक दलों से सलाह-मशविरा करना ज़रूरी था, साथ ही जनता की स्वीकृति भी हासिल करनी थी। इसी कारण भारत की राजनीति के इतिहास को जानने के लिए हमें विकास के कथाक्रम को पढ़ना ज़रूरी है।

विकास की धारणाएँ

अक्सर इन टकरावों के पीछे विकास की धारणाओं का हाथ होता है। उड़ीसा के उदाहरण से हमें पता चलता है कि इतना कह देने भर से बात नहीं बनती कि हर कोई विकास चाहता है। जनता के विभिन्न तबकों के लिए ‘विकास’ के अर्थ अलग-अलग होते हैं। मिसाल के लिए इस्पात-संयंत्र बैठाने की योजना बना रहे उद्योगपति, इस्पात के किसी शहरी उपभोक्ता और इस्पात-संयंत्र के लिए प्रस्तावित इलाके में रह रहे किसी आदिवासी के लिए ‘विकास’ का अर्थ अलग-अलग होगा। इस कारण ‘विकास’ से जुड़ी कोई भी ‘चर्चा’ विवादों से परे नहीं होती।

आजादी के बाद के पहले दशक में इस सवाल पर खूब बहसें हुई। उस वक्त लोग-बाग ‘विकास’ की बात आते ही ‘पश्चिम’ का हवाला देते थे कि ‘विकास’ का पैमाना ‘पश्चिमी’ मुल्क है। आज भी एक अर्थ में हम इस बात को लक्ष्य कर सकते हैं। ‘विकास’ का अर्थ था ज़्यादा-से-ज़्यादा आधुनिक होना और आधुनिक होने का अर्थ था, पश्चिमी औद्योगिक देशों की तरह होना। माना जाता था कि पश्चिमी मुल्कों की तरह हर देश को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रना होगा। जिस तरह पश्चिमी मुल्कों में आधुनिकीकरण के

कारण पुरानी सामाजिक संरचना टूटी और पूँजीवाद तथा उदारवाद का उदय हुआ, उसी तरह दुनिया के बाकी देशों में भी होगा। आधुनिकीकरण को संवृद्धि, भौतिक प्रगति और वैज्ञानिक तर्कबुद्धि का पर्यायवाची माना जाता था। 'विकास' की ऐसी धारणा को मानने के कारण तब हर कोई विभिन्न देशों को विकसित, विकासशील अथवा अविकसित बताकर उसके बारे में अपनी बातें कहता था।

आजादी के वक्त हिंदुस्तान के सामने विकास के दो मॉडल थे। पहला उदारवादी-पूँजीवादी मॉडल था। यूरोप के अधिकतर हिस्सों और संयुक्त राज्य अमरीका में यही मॉडल अपनाया गया था। दूसरा समाजवादी मॉडल था। इसे सोवियत संघ ने अपनाया था। आप इन दोनों विचारधाराओं के बारे में पढ़ चुके हैं और आप यह भी जानते हैं कि दो महाशक्तियों के बीच 'शीतयुद्ध' का दौर चला था। उस वक्त हिंदुस्तान में बहुत-से लोग विकास के सोवियत मॉडल से गहरे तौर पर प्रभावित थे। ऐसे लोगों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के ही नहीं बल्कि सोशलिस्ट पार्टी और खुद कांग्रेस के नेहरू तक शामिल थे। अमरीकी तर्ज के पूँजीवादी विकास के पैरोकार बहुत कम थे।

आजादी के आंदोलन के दौरान ही एक सहमति बन गई थी और नेताओं की इस पसंद में यही सहमति प्रतिबिंबित हो रही थी। राष्ट्रवादी नेताओं के मन में यह बात बिलकुल साफ़ थी कि आजाद भारत की सरकार के आर्थिक सरोकार अंग्रेजी हुकूमत के आर्थिक सरोकारों से एकदम अलग होंगे। आजाद भारत की सरकार अंग्रेजी हुकूमत की तरह संकुचित व्यापारिक हितों की पूर्ति के लिए काम नहीं करेगी। आजादी के आंदोलन के दौरान ही यह बात भी साफ़ हो गई थी कि गरीबी मिटाने और सामाजिक-आर्थिक पुनर्वितरण के काम का मुख्य जिम्मा सरकार का होगा। नेताओं में इन बातों को लेकर बहस छिड़ी। कुछ औद्योगीकरण को उचित रास्ता मानते थे तो कुछ की नज़र में कृषि का विकास करना और ग्रामीण क्षेत्र की गरीबी को दूर करना सर्वाधिक ज़रूरी था।



योजना आयोग के सदस्यों को संबोधित करते हुए नेहरू

क्या आप यह कह सहे हैं कि 'आधुनिक' बनने के लिए 'पश्चिमी' होना ज़रूरी नहीं है?
क्या यह संभव है?



प्राथमिक योजना :
माध्यमिक
योजना

बड़े खुशकिस्मत हैं ये लोग
कि हम जैसे लोग इनके लिए
विकास योजना बना रहे हैं।

योजना आयोग

कृष्ण
भारत
प्राचीन



योजना आयोग

पिछले साल आपने 'भारतीय संविधान : सिद्धांत और व्यवहार' नाम की किताब पढ़ी थी। क्या आप बता सकते हैं कि इसमें योजना आयोग का कोई जिक्र आया था या नहीं? दरअसल, योजना आयोग का जिक्र इस किताब में कहीं नहीं है क्योंकि योजना आयोग संविधान द्वारा स्थापित बाकी आयोगों अथवा दूसरे निकायों की तरह नहीं है। योजना आयोग की स्थापना, मार्च 1950 में, भारत सरकार ने एक सीधे-सादे प्रस्ताव के ज़रिए की। यह आयोग एक सलाहकार की भूमिका निभाता है और इसकी सिफारिशें तभी प्रभावकारी हो पाती हैं जब मंत्रिमंडल उन्हें मंजूर करे। जिस प्रस्ताव के ज़रिए योजना आयोग की स्थापना हुई थी उसमें इसके कार्यों के दायरे का उल्लेख करते हुए कहा गया था:

"भारत के संविधान में भारत के नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए हैं और राज्य के लिए नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत यह बात विशेष रूप से कही गई है कि राज्य एक ऐसी समाज-रचना को बनाते-बचाते हुए... लोगों की भलाई के लिए प्रयास करेगा जहाँ राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाएँ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की भावना से अनुप्राणित हों... राज्य अन्य बातों के अतिरिक्त अपनी नीतियों को इस तरह बनाएगा और अमल में लाएगा कि



क्या योजना आयोग
ने इन उद्देश्यों पर
अमल किया है?

कुछ आगे की... नीति आयोग ►►

भारत सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर एक नई संस्था, नीति आयोग (राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्था) की स्थापना की। यह संस्था 1 जनवरी 2015 को अस्तित्व में आई। इसके उद्देश्य और संरचना को जानने के लिए वेबसाइट, <http://niti.gov.in> से पता करें।

- (क) स्त्री और पुरुष, सभी नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधनों का बराबर-बराबर अधिकार हो।
- (ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों की मिल्कियत और नियंत्रण को इस तरह बाँटा जाएगा कि उससे सर्वसामान्य की भलाई हो; और
- (ग) अर्थव्यवस्था का संचालन इस तरह नहीं किया जाएगा कि धन अथवा उत्पादन के साधन एकाध जगह केंद्रित हो जाएँ और जनसामान्य की भलाई बाधित हो।

नियोजन

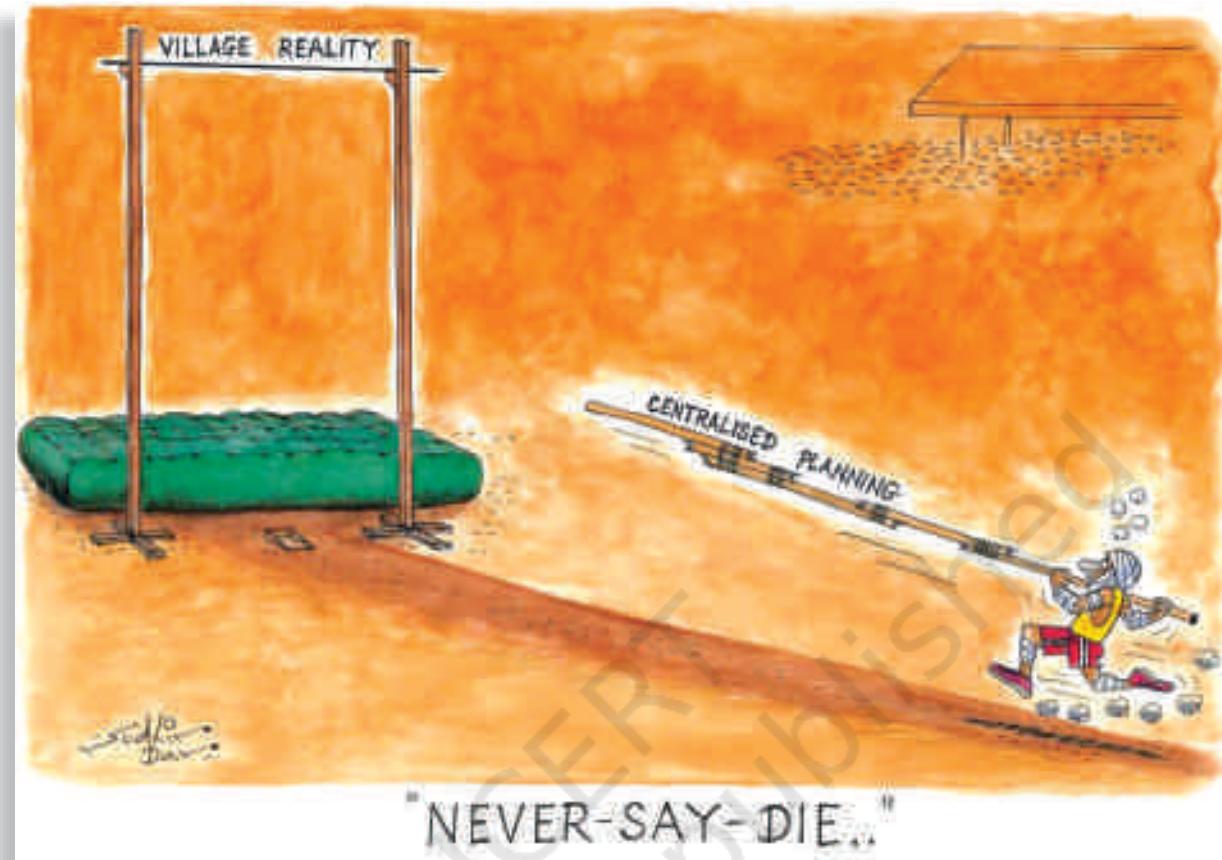
मतभेदों के बावजूद एक बिंदु पर सभी सहमत थे कि विकास का काम निजी हाथों में नहीं सौंपा जा सकता और सरकार के लिए ज़रूरी है कि वह विकास का एक खाका अथवा योजना तैयार करे। दरअसल अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए नियोजन के विचार को 1940 और 1950 के दशक में पूरे विश्व में जनसमर्थन मिला था। यूरोप 'महामंदी' का शिकार होकर कुछ सबक सीख चुका था; जापान और जर्मनी ने युद्ध की विभीषिका झेलने के बाद अपनी अर्थव्यवस्था फिर खड़ी कर ली थी और सोवियत संघ ने 1930 तथा 1940 के दशक में भारी कठिनाइयों के बीच शानदार अर्थिक प्रगति की थी। इन सारी बातों के कारण नियोजन के पक्ष में दुनिया भर में हवा बह रही थी।

इस तरह देखें तो योजना आयोग कोई आकस्मिक आविष्कार नहीं था। दरअसल, यह कहानी अपने आप में बड़ी दिलचस्प है। हम आमतौर पर सोचते हैं कि निजी निवेशक मसलन उद्योगपति और बड़े व्यापारिक उद्यमी नियोजन के पक्ष में नहीं होते; वे एक खुली अर्थव्यवस्था चाहते हैं जहाँ पूँजी के बहाव पर सरकार का कोई अंकुश न हो। लेकिन, भारत में ऐसा नहीं हुआ। 1944 में उद्योगपतियों का एक तबका एकजुट हुआ। इस समूह ने देश में नियोजित अर्थव्यवस्था चलाने का एक संयुक्त प्रस्ताव तैयार किया। इसे 'बॉम्बे प्लान' कहा जाता है। 'बॉम्बे प्लान' की मंशा थी कि सरकार औद्योगिक तथा अन्य अर्थिक निवेश के क्षेत्र में बड़े कदम उठाए। इस तरह चाहे दक्षिणपंथी हों अथवा बामपंथी, उस वक्त सभी चाहते थे कि देश नियोजित अर्थव्यवस्था की राह पर चले। भारत के आजाद होते ही योजना आयोग अस्तित्व में आया। प्रधानमंत्री इसके अध्यक्ष बने। भारत अपने विकास के लिए कौन-सा रास्ता और रणनीति अपनाएगा—यह फ़ैसला करने में इस संस्था ने केंद्रीय और सबसे प्रभावशाली भूमिका निभाई।

शुरुआती कदम

सोवियत संघ की तरह भारत के योजना आयोग ने भी पंचवर्षीय योजनाओं का विकल्प चुना। इसके पीछे एक सीधा-सादा विचार था कि भारत सरकार अपनी तरफ से एक दस्तावेज़ तैयार करेगी, जिसमें अगले पाँच सालों के लिए उसकी आमदनी और खर्च की योजना होगी। इस





साथर : मुधिर दर/यूटनडीपी एवं योजना आयोग

योजना के अनुसार केंद्र सरकार और सभी राज्य-सरकारों के बजट को दो हिस्सों में बाँटा गया। एक हिस्सा गैरयोजना-व्यय का था। इसके अंतर्गत सालाना आधार पर दैनंदिन मदों पर खर्च करना था। दूसरा हिस्सा योजना-व्यय का था। योजना में तय की गई प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए इसे पाँच साल की अवधि में खर्च करना था। पंचवर्षीय योजना पर अमल करने का एक फ़ायदा यह था कि सरकार के सामने अर्थव्यवस्था की एक बड़ी तसवीर होती थी और वह अर्थव्यवस्था में लंबी अवधि के हस्तक्षेप कर सकती थी।



प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप

1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप जारी हुआ और इसी साल नवंबर में इस योजना का वास्तविक दस्तावेज़ भी जारी किया गया। इससे देश में गहमागहमी का माहौल पैदा हुआ। जीवन के हर क्षेत्र के लोग मसलन-बुद्धिजीवी, पत्रकार, सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्र के कर्मचारी, उद्योगपति, किसान और राजनेता आदि ने योजना के दस्तावेजों पर व्यापक बहस-मुबाहिसा चलाया। नियोजन को लेकर देश में जो गहमागहमी पैदा हुई थी वह 1956 से चालू दूसरी पंचवर्षीय योजना के साथ अपने चरम पर पहुँच गई। 1961 की तीसरी पंचवर्षीय योजना के समय तक यह माहौल जारी रहा। चौथी पंचवर्षीय योजना 1966 से चालू होनी थी। लेकिन, इस वक्त तक नियोजन का नयापन एक हद तक मंद पड़ गया था और भारत गहन आर्थिक संकट की चपेट में आ चुका था। सरकार ने पंचवर्षीय योजना को थोड़ी देर का विराम देने का फ़ैसला किया। हालाँकि इन योजनाओं की प्राथमिकताओं और प्रक्रिया को लेकर अनेक आलोचनाएँ सामने आई लेकिन यह बात सच है कि इस वक्त तक भारत के आर्थिक विकास की बुनियाद पड़ चुकी थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956) की कोशिश देश को गरीबी के मकड़ा-जाल से निकालने की थी। योजना को तैयार करने में जुटे विशेषज्ञों में एक के.एन. राज थे। इस युवा अर्थशास्त्री की दलील थी कि अगले दो दशक तक भारत को अपनी चाल 'धीमी' रखनी चाहिए क्योंकि तेज़ रफ्तार विकास से अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचेगा। पहली पंचवर्षीय योजना में ज्यादा ज़ोर कृषि-क्षेत्र पर था। इसी योजना के अंतर्गत बाँध और सिंचाई के क्षेत्र में निवेश किया गया। विभाजन के कारण कृषि-क्षेत्र को गहरी मार लगी थी और इस क्षेत्र पर तुरंत ध्यान देना ज़रूरी था। भाखड़ा-नांगल जैसी विशाल परियोजनाओं के लिए बड़ी धनराशि आवंटित की गई। इस पंचवर्षीय योजना में माना गया था कि देश में भूमि के वितरण का जो ढर्म मौजूद है उससे कृषि के विकास को सबसे बड़ी बाधा पहुँचती है। इस योजना में भूमि-सुधार पर ज़ोर दिया गया और उसे देश के विकास की बुनियादी चीज़ माना गया।

योजनाकारों का बुनियादी लक्ष्य राष्ट्रीय आय के स्तर को ऊँचा करने का था। यह तभी संभव था जब लोगों की बचत उनके खर्च से ज्यादा हो। 1950 के दशक में खर्च का स्तर भी बहुत नीचे था। इसे अब और कम नहीं किया जा सकता था। योजनाकारों ने बचत को बढ़ावा देने की कोशिश की। यह काम भी कठिन था क्योंकि देश में रोजगार के काबिल जितने लोग थे उनकी तुलना में देश का मौजूदा पूँजी-भंडार कम था। बहरहाल, नियोजन की प्रक्रिया में लोगों की बचत तीसरी पंचवर्षीय योजना तक बढ़ी। लेकिन, यह बचत उम्मीद के अनुरूप नहीं थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत में इससे कहीं ज्यादा बचत की उम्मीद की गई थी। बाद के दिनों में यानी 1960 के दशक से लेकर 1970 के दशक के शुरुआती सालों तक बचत की मात्रा में लगातार कमी आई।

औद्योगीकरण की तेज़ रफ्तार

दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास पर ज़ोर दिया गया। पी.सी. महालनोबिस के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों और योजनाकारों की एक टोली ने यह योजना तैयार की थी। पहली योजना का मूलमंत्र था धीरज, लेकिन दूसरी योजना की कोशिश तेज़ गति से संरचनात्मक बदलाव करने की थी। इसके लिए हर संभव दिशा में बदलाव की बात तय की गई थी। सरकार ने देसी उद्योगों को संरक्षण देने के लिए आयात पर भारी शुल्क लगाया। संरक्षण की इस नीति से निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को आगे बढ़ने में मदद मिली। चूँकि इस अवधि में बचत और निवेश दोनों ही बढ़ रहे थे इसलिए बिजली, रेलवे, इस्पात, मशीनरी और संचार जैसे उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में विकसित किया जा सकता था। दरअसल, औद्योगीकरण पर दिए गए इस ज़ोर ने भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को एक नया आयाम दिया।

बहरहाल, इसके साथ कुछ समस्याएँ भी थीं। भारत प्रौद्योगिकी के लिहाज़ से पिछड़ा हुआ था और विश्व बाज़ार से प्रौद्योगिकी खरीदने में उसे अपनी बहुमूल्य विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त, उद्योगों ने कृषि की अपेक्षा निवेश को ज्यादा आकर्षित किया। ऐसे में खाद्यान्न-संकट की आशंका अलग से सता रही थी। भारत के योजनाकारों को उद्योग और कृषि के बीच संतुलन साधने में भारी कठिनाई आई। तीसरी पंचवर्षीय योजना दूसरी

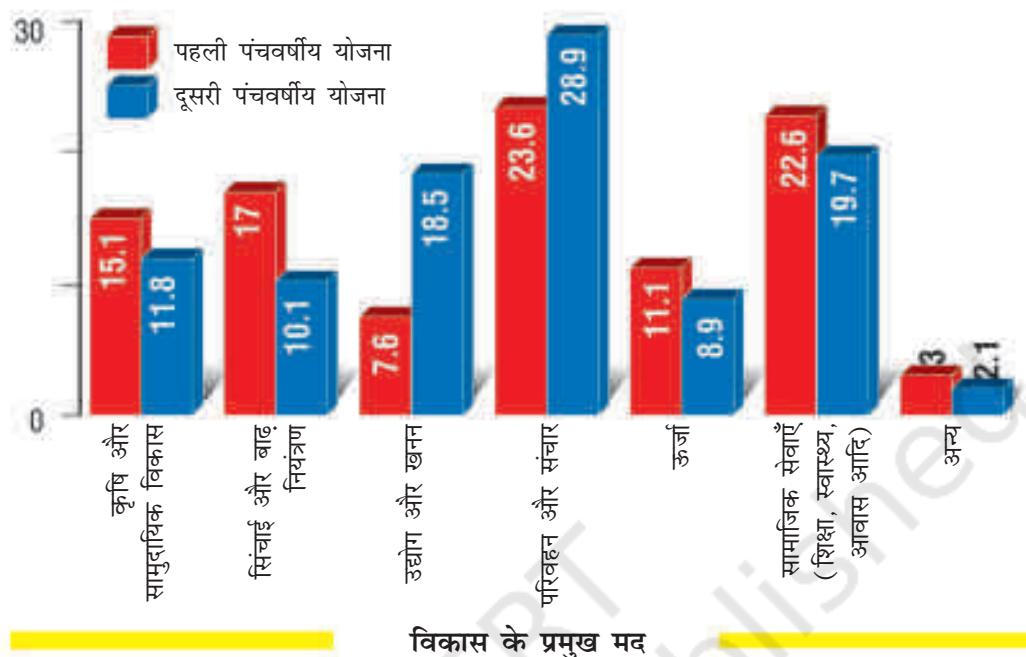


दसवीं पंचवर्षीय योजना का दस्तावेज़।



पी.सी. महालनोबिस (1893-1972) : अंतरराष्ट्रीय स्तर के विद्यात वैज्ञानिक एवं सांख्यिकीविद ; भारतीय सांख्यिकी संस्थान (1931) के संस्थापक; दूसरी पंचवर्षीय योजना के योजनाकार; तीव्र औद्योगीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र की सक्रिय भूमिका के समर्थक।

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना में आवंटन (प्रतिशत में)



विकेंद्रित नियोजन

जरूरी नहीं कि हर नियोजन केंद्रीकृत ही हो। ऐसा भी नहीं है कि नियोजन का मतलब हमेशा उद्योगों और बड़ी-बड़ी परियोजनाओं से ही लगाया जाए। केरल में विकास और नियोजन के लिए जो रास्ता चुना गया उसे 'केरल मॉडल' कहा जाता है। इस मॉडल में शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि-सुधार, कारगर खाद्य-वितरण और गरीबी-उन्मूलन पर जोर दिया जाता रहा है। केरल में प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत कम है और यहाँ औद्योगिक-आधार भी तुलनात्मक रूप से कमज़ोर रहा है। इसके बावजूद केरल में साक्षरता शत-प्रतिशत है। आयु प्रत्याशा बढ़ी है और वहाँ शिशु मृत्यु-दर, मारृ मृत्यु-दर और जन्म-दर भी कम है। केरल में लोगों को कहीं ज्यादा चिकित्सा-सुविधा मुहैया है। 1987 से 1991 के बीच सरकार ने 'नव लोकतात्त्विक पहल' नाम से अभियान चलाया। इसके अंतर्गत विकास के अभियान चले (जिसमें विज्ञान और पर्यावरण के मामले में शत-प्रतिशत साक्षरता का अभियान शामिल है)। इन अभियानों की रूपरेखा इस तरह बनाई गई थी कि लोगों को स्वयंसेवी नागरिक संगठनों के माध्यम से विकास की गतिविधियों में सीधे शामिल किया जा सके। केरल में इस बात के भी प्रयास किए गए कि लोग पंचायत, प्रखंड और जिला स्तर की योजनाओं को तैयार करने में शामिल हों।

योजना से कुछ खास अलग नहीं थी। आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि इस समय से योजना की रणनीतियों में सीधे-सीधे 'शहरों' की तरफदारी होती नज़र आती है। कुछ अन्य लोगों का मानना था कि कृषि की जगह उद्योग को प्राथमिकता देकर गलती की गई। कुछ ऐसे भी लोग थे जो चाहते थे कि भारी उद्योगों की जगह कृषि-आधारित उद्योगों पर जोर दिया जाए।

मुख्य विवाद

शुरुआती दौर में विकास की जो रणनीतियाँ अपनाई गई उन पर बड़े सवाल उठे। यहाँ हम ऐसे दो सवालों की चर्चा करेंगे जो आज भी प्रासंगिक हैं।

कृषि बनाम उद्योग

हम एक बड़े सवाल से पहले ही परिचित हो चुके हैं। यह सवाल है कि भारत जैसी पिछड़ी अर्थव्यवस्था में कृषि और उद्योग के बीच किसमें

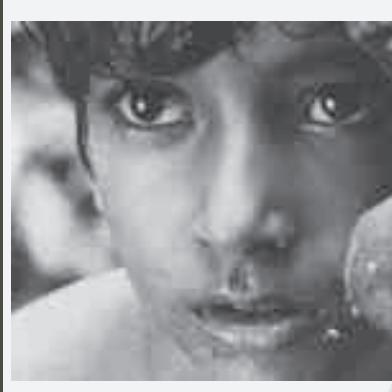


जे.सी. कुमारप्पा

(1892-1960) : असली नाम जे. सी. कॉर्नेलियस; अर्थशास्त्री एवं चार्टर्ड अकाउटेंट; इंग्लैंड एवं अमेरिका में शिक्षा; महात्मा गांधी के अनुयायी; गांधीवादी आर्थिक नीतियों को लागू करने की कोशिश; 'इकॉनोमी ऑफ परमानेंस' के लेखक; योजना आयोग के सदस्य के रूप में योजना प्रक्रिया में हिस्सेदारी।

स्थिने-संसार

पाथेर पांचाली



फिल्म की कहानी बंगाल के एक गांव में रहने वाले गरीब परिवार के जीवन-संघर्ष को बयान करती है। गरीबी और रोज़मरा के संघर्ष से बेखबर दुर्गा तथा उसका छोटा भाई अपूर्ण जीवन को छोटी-मोटी खुशियों में मशगूल रहते हैं। पाथेर पांचाली गरीबी से जूझ रहे इस परिवार की इच्छाओं और निराशा को बच्चों की आंखों से दिखाती है। फिल्म के अंत में दुर्गा बीमार पड़ जाती है।

उसके पिता हरिहर बाहर गए हुए हैं। पिता जब लौटते हैं तो अपने बच्चों के लिए तरह-तरह की चीजें लाते हैं। वे दुर्गा के लिए एक साड़ी भी लाए हैं लेकिन घर आने पर उन्हें पता चलता है कि दुर्गा इस दुनिया में नहीं रही। फिल्म को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई पुरस्कार मिले। इनमें राष्ट्रपति स्वर्णपदक और रजत पदक पुरस्कार (1955) शामिल हैं।

वर्ष : 1955

निर्देशक : सत्यजित रे

कथा : विभूतिभूषण बंदोपाध्याय

पटकथा: सत्यजित रे

अभिनय: कानू बनर्जी, करुणा बनर्जी, सुबीर बनर्जी, उमा दास गुप्ता, दुर्गा, चुनीबाला देवी।

ज्यादा संसाधन लगाए जाने चाहिए। कइयों का मानना था कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में कृषि के विकास की रणनीति का अभाव था और इस योजना के दौरान उद्योगों पर ज़ोर देने के कारण खेती और ग्रामीण इलाकों को चोट पहुँची। जे.सी. कुमारप्पा जैसे गांधीवादी अर्थशास्त्रियों ने एक वैकल्पिक योजना का खाका प्रस्तुत किया था जिसमें ग्रामीण औद्योगिकरण पर ज्यादा ज़ोर था। चौधरी चरण सिंह ने भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन में कृषि को केंद्र में रखने की बात बड़े सुविचारित और दमदार ढंग से उठायी थी। चौधरी चरण सिंह कांग्रेस पार्टी में थे और बाद में उससे अलग होकर इन्होंने भारतीय लोकदल नामक पार्टी बनाई। उन्होंने कहा कि नियोजन से शहरी और औद्योगिक तबके समृद्ध हो रहे हैं और इसकी कीमत किसानों और ग्रामीण जनता को चुकानी पड़ रही है।

कई अन्य लोगों का सोचना था कि औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर को तेज़ किए

बगैर गरीबी के मकड़जाल से छुटकारा नहीं मिल सकता। इन लोगों का तर्क था कि भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन में खाद्यान के उत्पादन को बढ़ाने की रणनीति अवश्य ही अपनायी गई थी। राज्य ने भूमि-सुधार और ग्रामीण निधनों के बीच संसाधन के बँटवारे के लिए कानून बनाए। नियोजन में सामुदायिक विकास के कार्यक्रम तथा सिंचाई परियोजनाओं पर बड़ी रकम खर्च करने की बात मानी गई थी। नियोजन की नीतियाँ असफल नहीं हुईं। दरअसल, इनका कार्यान्वयन ठीक नहीं हुआ क्योंकि भूमि-संपन्न तबके के पास सामाजिक और राजनीतिक ताकत ज्यादा थी। इसके अतिरिक्त, ऐसे लोगों की एक दलील यह भी थी कि यदि सरकार कृषि पर ज्यादा धनराशि खर्च करती तब भी ग्रामीण गरीबी की विकराल समस्या का समाधान न कर पाती।

निजी क्षेत्र बनाम सार्वजनिक क्षेत्र

विकास के जो दो जाने-माने मॉडल थे, भारत ने उनमें से किसी को नहीं अपनाया। पूँजीवादी मॉडल में विकास का काम पूर्णतया निजी क्षेत्र के भरोसे होता है। भारत ने यह रास्ता नहीं अपनाया। भारत ने विकास का समाजवादी मॉडल भी नहीं अपनाया जिसमें निजी संपत्ति को खत्म कर दिया जाता है और हर तरह के उत्पादन पर राज्य का नियंत्रण होता है। इन दोनों ही मॉडल की कुछ एक बातों को ले लिया गया और अपने देश में इन्हें मिले-जुले रूप में लागू किया गया। इसी कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को 'मिश्रित-अर्थव्यवस्था' कहा जाता है।



प्रस्तुत कार्टून में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र का विवाद दिखाया गया है सार्वजनिक क्षेत्र के पक्ष में केंद्रीय मंत्रियों-लालबहादुर शास्त्री, अजीत प्रसाद जैन, कैलाश नाथ काटजू, जगजीवन राम, टी.टी. कृष्णमचारी, स्वर्ण सिंह, गुलजारी लाल नंदा एवं बी. के.केसकर आदि को दिखाया गया है।

खेती-किसानी, व्यापार और उद्योगों का एक बड़ा भाग निजी क्षेत्र के हाथों में रहा। राज्य ने अपने हाथ में भारी उद्योगों को रखा और उसने आधारभूत ढाँचा प्रदान किया। राज्य ने व्यापार का नियमन किया और कृषि के क्षेत्र में कुछ बड़े हस्तक्षेप किए।

इस तरह के मिले-जुले मॉडल की आलोचना दक्षिणपंथी और वामपंथी, दोनों खेमों से हुई। आलोचकों का कहना था कि योजनाकारों ने निजी क्षेत्र को पर्याप्त जगह नहीं दी है और न ही निजी क्षेत्र के बढ़वार के लिए कोई उपाय किया गया है। विशाल सार्वजनिक क्षेत्र ने ताकतवर निहित स्वार्थों को खड़ा किया है और इन न्यस्त हितों ने निवेश के लिए लाइसेंस तथा परमिट की प्रणाली खड़ी करके निजी पूँजी की राह में रोड़े अटकाए हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने ऐसी चीजों के आयात पर बाधा आयद की है जिन्हें घरेलू बाजार में बनाया जा सकता हो। ऐसी चीजों के उत्पादन का बाजार एक तरह से प्रतिस्पर्धाविहीन है। इसकी वजह से निजी क्षेत्र के पास अपने उत्पादों की गुणवत्ता सुधारने अथवा उन्हें सस्ता करने की कोई हड़बड़ी नहीं रही। सरकार ने अपने नियंत्रण में ज़रूरत से ज़्यादा चीजें रखी हैं। इससे भ्रष्टाचार और अकुशलता बढ़ी है।

कुछ ऐसे आलोचक भी थे जो सोचते थे कि सरकार को जितना करना चाहिए था उतना उसने नहीं किया। इन आलोचकों ने ध्यान दिलाया कि जनता की शिक्षा अथवा चिकित्सा के मद में सरकार ने कुछ खास धनराशि खर्च नहीं की। सरकार ने केवल उन्हीं क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया जहाँ निजी क्षेत्र जाने के लिए तैयार नहीं था। दरअसल, सरकार ने इस तरह से निजी क्षेत्र की मुनाफा कमाने में मदद की। इसके अतिरिक्त, मदद गरीबों की होनी चाहिए थी लेकिन राज्य के हस्तक्षेप के फलस्वरूप एक नया ‘मध्यवर्ग’ उठ खड़ा हुआ जो बगैर खास जिम्मेदारी के मोटी तनख्वाह सहित अन्य सुविधाओं को भोग रहा है। इस अवधि में गरीबी में ज़्यादा कमी नहीं आई; गरीबों का प्रतिशत कुल जनसंख्या में भले कम हुआ हो लेकिन उनकी संख्या में बढ़ोतरी हुई है।

मुख्य परिणाम

आजाद भारत के सामने तीन मुख्य चुनौतियाँ थीं। इनकी चर्चा यहाँ तीन अध्यायों में की गई है। इनमें तीसरी चुनौती सबसे कठिन साबित हुई। नियोजित विकास की शुरुआती कोशिशों को देश के आर्थिक विकास और सभी नागरिकों की भलाई के लक्ष्य में अंशिक सफलता मिली। शुरुआती दौर में ही इस दिशा में बड़े कदम न उठा पाने की अक्षमता एक राजनीतिक समस्या के रूप में सामने आई। असमान विकास से जिनको फायदा पहुँचा था वे जल्दी ही राजनीतिक रूप से ताकतवर हो उठे और इन के कारण सबकी भलाई को ध्यान में रखकर विकास की दिशा में कदम उठाना और मुश्किल हो गया।

बुनियाद

नियोजित विकास के शुरुआती दौर का मूल्यांकन करते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि इसी दौर में भारत के आगामी आर्थिक विकास की बुनियाद पड़ी। भारत के इतिहास की कुछ सबसे बड़ी विकास-परियोजनाएँ इसी अवधि में शुरू हुईं। इसमें सिंचाई और बिजली-उत्पादन के लिए शुरू की गई भाखड़ा-नांगल और होराकुंड जैसी विशाल बाँध परियोजनाएँ शामिल हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ भारी उद्योग जैसे— इस्पात-संयंत्र, तेल-शोधक

सरकारी प्रचार गाँव तक पहुँचा

“एक तरह से शिवपालगंज में दीवारों पर चिपके या लिखे हुए विज्ञापन वहाँ की समस्याओं और उनके समाधानों का सच्चा परिचय देते थे। मिसाल के लिए, समस्या थी कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है और किसान बदमाशी के कारण अधिक अन्न नहीं उपजाते। इसका समाधान यह था कि किसानों के आगे लेक्चर दिया जाए और उन्हें अच्छी-अच्छी तसवीरें दिखायी जाएँ। उनके द्वारा उन्हें बताया जाए कि तुम अगर अपने लिए अन्न नहीं पैदा करना चाहते तो देश के लिए करो। इसी से जगह-जगह पोस्टर चिपके हुए थे जो काश्तकारों से देश के लिए अधिक अन्न पैदा करना चाहते थे। लेक्चरों और तसवीरों का मिला-जुला असर काश्तकारों पर बड़े जोर से पड़ता था और भोले-से-भोला काश्तकार भी मानने लगता था कि हो-न-हो, इसके पीछे भी कोई चाल है।

शिवपालगंज में उन दिनों एक ऐसा विज्ञापन खासतौर से मशहूर हो रहा था जिसमें एक तंदुरुस्त काश्तकार सिर पर अंगोछा बांधे, कानों में बालियाँ लटकाए और बदन पर मिर्जई पहने गेहूँ की ऊँची फसल को हँसिये से काट रहा था। एक औरत उसके पीछे खड़ी हुई, अपने-आपसे बहुत खुश, कृषि विभाग के से अफसरों वाली हँसी हँस रही थी। नीचे और ऊपर अंग्रेजी और हिंदी अक्षरों में लिखा था, “अधिक अन्न उपजाओ।” मिर्जई और बालीवाले काश्तकारों में जो अंग्रेजी के विद्वान थे, उन्हें अंग्रेजी इबारत से और जो हिंदी के विद्वान थे, उन्हें हिंदी से परास्त करने की बात सौची गयी थी, और जो दो में से एक भी भाषा नहीं जानते थे, वे भी कम-से-कम आदमी और औरत को तो पहचानते ही थे। उनसे आशा की जाती थी कि आदमी के पीछे हँसती हुई औरत की तसवीर देखते ही वे उसकी ओर पीठ फेरकर दीवानों की तरह अधिक अन्न उपजाना शुरू कर देंगे।

— श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित उपन्यास रागदरबारी का एक हिस्सा। इस उपन्यास का कथाकाल 1960 का दशक है और कथाभूमि है उत्तर प्रदेश का एक गाँव शिवपालगंज।

कारखाने, विनिर्माता इकाइयाँ, रक्षा-उत्पादन आदि—इसी अवधि में शुरू हुए। इस दौर में परिवहन और संचार के आधारभूत ढाँचे में भी काफ़ी इजाफ़ा हुआ। बाद के समय में कुछ विशाल परियोजनाओं की खूब आलोचना हुई। फिर भी, बाद के समय की आर्थिक संवृद्धि (जिसमें निजी क्षेत्र की आर्थिक संवृद्धि भी शामिल है) इस बुनियाद के बाहर संभव नहीं हो पाती।

भूमि सुधार

अरे! मैं तो भूमि सुधारों को मिट्टी की गुणवत्ता सुधारने की तरकीक समझता था।



जहाँ तक कृषि-क्षेत्र का सबाल है, इस अवधि में भूमि सुधार के गंभीर प्रयास हुए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और सफल प्रयास जमींदारी प्रथा को समाप्त करने का था। यह प्रथा अंग्रेजी शासन के जमाने से चली आ रही थी। इस साहसिक कदम को उठाने से जमीन उस वर्ग के हाथ से मुक्त हुई जिसे कृषि में कोई दिलचस्पी नहीं थी। इससे राजनीति पर दबदबा कायम रखने की जमींदारों की क्षमता भी घटी। जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक साथ करने के प्रयास किए गए ताकि खेती का काम सुविधाजनक हो सके। यह प्रयास भी सफल रहा। भूमि सुधार की दो अन्य कोशिशों को थोड़ी कम सफलता मिली। हालांकि इस बात के लिए कानून बनाए गए कि कोई व्यक्ति अधिकतम कितनी भूमि अपने नाम पर रख सकता है लेकिन जिनके पास ज्यादा जमीन थी उन्होंने इस कानून का तोड़ खोज लिया। ठीक इसी तरह जो काश्तकार किसी और की जमीन बटाई पर जोत-बो रहे थे, उन्हें भी ज्यादा कानूनी सुरक्षा प्रदान की गई लेकिन इस कानून पर शायद ही कहीं अमल हुआ।



खाद्य संकट

1960 के दशक में कृषि की दशा बद से बदतर होती गई। 1940 और 1950 के दशक में ही खाद्यानन के उत्पादन की वृद्धि दर, जनसंख्या की वृद्धि दर से जैसे-तैसे अपने को ऊपर रख पाई थी। 1965 से 1967 के बीच देश के अनेक हिस्सों में सूखा पड़ा। इसके बारे में हम लोग अगले अध्याय में पढ़ेंगे। इन सारी बातों के कारण खाद्यानन की भारी कमी हो गई। देश के अनेक भागों में अकाल जैसी स्थिति आन पड़ी। बिहार में खाद्यानन संकट सबसे ज्यादा विकराल था। यहाँ स्थिति लगभग अकाल जैसी हो गई थी। बिहार के सभी जिलों में खाद्यानन का अभाव बड़े पैमाने पर था। इस राज्य के 9 जिलों में अनाज की पैदावार सामान्य स्थिति की तुलना में आधी से भी कम थी। इनमें से पाँच जिले अपनी सामान्य पैदावार की तुलना में महज एक-तिहाई ही अनाज उपजा रहे थे।

खाद्यानन के अभाव में कृपोषण बड़े पैमाने पर फैला और इसने गंभीर रूप धारण किया। अनुमान के मुताबिक बिहार के अनेक हिस्सों में उस समय प्रति व्यक्ति प्रतिदिन का आहार 2200 कैलोरी से घटकर 1200 कैलोरी हो गया था, जबकि एक सामान्य आदमी के लिए रोजाना 2450 कैलोरी के आहार की ज़रूरत होती है। 1967 में बिहार में मृत्यु दर पिछले साल की तुलना में 34 प्रतिशत बढ़ गई थी। इन वर्षों के दौरान बिहार में उत्तर भारत के अन्य राज्यों की तुलना में खाद्यानन की कीमतें भी काफ़ी बढ़ीं। अपेक्षाकृत समृद्ध पंजाब की तुलना में गेहूँ और चावल बिहार में दोगुने अथवा उससे भी ज्यादा दामों में बिक रहे थे। सरकार ने उस वक्त 'ज्ञानिंग' या इलाकाबंदी की नीति अपना रखी थी। इसकी वजह से विभिन्न राज्यों के बीच खाद्यानन का व्यापार नहीं हो पा रहा था। इस नीति के कारण उस वक्त बिहार में खाद्यानन की उपलब्धता में भारी गिरावट आई थी। ऐसी दशा में समाज के सबसे गरीब तबके पर सबसे ज्यादा चोट पड़ी।

खाद्य संकट के कई परिणाम हुए। सरकार को गेहूँ का आयात करना पड़ा और विदेशी मदद (खासकर संयुक्त राज्य अमरीका की) भी स्वीकार करनी पड़ी। अब योजनाकारों के सामने पहली प्राथमिकता तो यही थी कि किसी भी तरह खाद्यानन के मामले में आत्मनिर्भरत हासिल की जाए। पूरी योजना-प्रक्रिया और इससे जुड़ी आशा तथा गर्वबोध को इन बातों से एक धक्का लगा।

कृषि की बेहतरी और खेतिहर जनता की भलाई से जुड़ी इन नीतियों को ठीक-ठीक और कारगर तरीके से अमल में ला पाना आसान नहीं था। ऐसा तभी हो सकता था जब ग्रामीण भूमिहीन जनता लामबंद हो लेकिन भू-स्वामी बहुत ताकतवर थे। इनका राजनीतिक रसूख भी था। इस वजह से भूमि सुधार के अनेक प्रस्ताव या तो कानून का रूप नहीं ले सके या कानून बनने पर महज कागज की शोभा बढ़ाते रहे। इससे पता चलता है कि आर्थिक नीति किसी समाज की वास्तविक राजनीतिक स्थिति का ही अंग होती है। इससे यह भी जाहिर होता है कि शीर्षस्थ नेताओं की भलमनसाहत के बावजूद प्रभुत्व संपन्न सामाजिक वर्ग ही हमेशा नीति के निर्माण और उसके क्रियान्वयन पर अपना कारगर नियंत्रण रखता है।

हरित क्रांति

इसे गेहूँ क्रांति कहने में क्या हर्ज है? क्या हर चीज़ को 'क्रांति' कहना जरूरी है?



खाद्यान्न संकट की इस हालत में देश पर बाहरी दबाव पड़ने की आशंका बढ़ गई थी। भारत विदेशी खाद्य-सहायता पर निर्भर हो चला था, खासकर संयुक्त राज्य अमरीका के। संयुक्त राज्य अमरीका ने इसकी एवज में भारत पर अपनी आर्थिक नीतियों को बदलने के लिए ज़ोर डाला। सरकार ने खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए कृषि की एक नई रणनीति अपनाई। जो इलाके अथवा किसान खेती के मामले में पिछड़े हुए थे, शुरू-शुरू में सरकार ने उनको ज्यादा सहायता देने की नीति अपनाई थी। इस नीति को छोड़ दिया गया। सरकार ने अब उन इलाकों पर ज्यादा संसाधन लगाने का फैसला किया जहाँ सिंचाई सुविधा मौजूद थी और जहाँ के किसान समृद्ध थे। इस नीति के पक्ष में दलील यह दी गई कि जो पहले से ही सक्षम हैं वे कम समय में उत्पादन को तेज़ रफ्तार से बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं। सरकार ने उच्च गुणवत्ता के बीज, उर्वरक, कीटनाशक और बेहतर सिंचाई सुविधा बढ़ा अनुदानित मूल्य पर मुहैया कराना शुरू किया। सरकार ने इस बात की भी गारंटी दी कि उपज को एक निर्धारित मूल्य पर खरीद लिया जाएगा। यही उस परिघटना की शुरुआत थी जिसे 'हरित क्रांति' कहा जाता है।

इस प्रक्रिया में धनी किसानों और बड़े भू-स्वामियों को सबसे ज्यादा फायदा हुआ। हरित क्रांति से खेतिहर पैदावार में सामान्य किस्म का इजाफा हुआ (ज्यादातर गेहूँ की पैदावार बढ़ी) और देश में खाद्यान्न की उपलब्धता में बढ़ोत्तरी हुई। बहरहाल, इससे समाज के विभिन्न वर्गों

श्रीकांत को अब भी वे दिन बखूबी याद हैं, जब उसके बड़े भाई को राशन की दुकान से सामान लाने के लिए धक्का-मुक्की करनी पड़ती थी। श्रीकांत का परिवार चावल, तेल और केरेसिन के लिए राशन की दुकान पर ही निर्भर था। कई बार ऐसा हुआ कि उसका भाई राशन की लाइन में खड़ा रहा और जब उसकी बारी आई तो पता चला कि राशन खत्म हो गया है। अपने परिवार के वरिष्ठ सदस्यों से पूछें कि राशनकार्ड कैसा होता है? यह भी जानने का प्रयास करें कि क्या वे कोई सामान अभी भी राशन की दुकान से खरीदते हैं। अपने स्कूल या घर के आसपास राशन की दुकान ढूँढ़ें और यह जानने का प्रयास करें कि गेहूँ, चावल, बनस्पति तेल और चीनी यहाँ किस दाम पर बिक रही हैं। इसके बाद यह जानने का प्रयास करें कि इन वस्तुओं की कीमत खुले बाजार में क्या है?

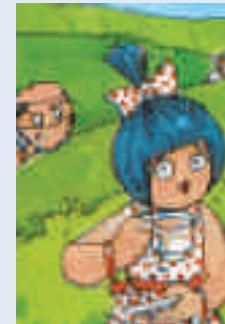
बिन-
बोन-

कुछ आगे की... श्वेत क्रांति



'अटरली बटरली डेलीशियस' का जुमला आपने ज़रूर पढ़ा-सुना होगा और वह खुशगवार तसवीर भी देखी होगी जिसमें एक छोटी-सी बच्ची के हाथ में मक्कन लगा टोस्ट होता है। जी हाँ! हम 'अमूल' के विज्ञापन की बात कर रहे हैं। क्या आप जानते हैं कि 'अमूल' के उत्पादों के पीछे सहकारी डेयरी फार्मिंग की एक पूरी कथा छुपी हुई है। 'मिल्कमैन ऑफ़ इंडिया' के नाम से मशहूर वर्गीज कूरियन ने गुजरात सहकारी दुग्ध एवं विपणन परिसंघ की विकास कथा में केंद्रीय भूमिका निभायी और 'अमूल' की शुरुआत की।

गुजरात का एक शहर है 'आणंद'। सहकारी दूध उत्पादन का आंदोलन अमूल इसी शहर में कायम है। इसमें गुजरात के 25 लाख दूध-उत्पादक जुड़े हैं। ग्रामीण-विकास और गरीबी-उन्मूलन के लिहाज से 'अमूल' नाम का यह सहकारी आंदोलन अपने आप में एक अनूठा और कारगर मॉडल है। इस 'मॉडल' के विस्तार को श्वेत क्रांति के नाम से जाना जाता है। 1970 में 'ऑपरेशन फ्लड' के नाम से एक ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू हुआ था। 'ऑपरेशन फ्लड' के अंतर्गत सहकारी दूध-उत्पादकों को उत्पादन और विपणन के एक राष्ट्रव्यापी तंत्र से जोड़ा गया। बहरहाल, 'ऑपरेशन फ्लड' सिफ़े डेयरी-कार्यक्रम नहीं था। इस कार्यक्रम में डेयरी के काम को विकास के एक माध्यम के रूप में अपनाया गया था ताकि ग्रामीण लोगों को रोजगार के अवसर प्राप्त हों, उनकी आमदनी बढ़े तथा गरीबी दूर हो। सहकारी दूध-उत्पादकों की सदस्य संख्या लगातार बढ़ रही है। सदस्यों में महिलाओं की संख्या भी बढ़ी है। महिला सहकारी डेयरी के जमातों में भी इजाफा हुआ है।



और देश के अलग-अलग इलाकों के बीच ध्रुवीकरण तेज़ हुआ। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे इलाके कृषि के लिहाज से समृद्ध हो गए जबकि बाकी इलाके खेती के मामले में पिछड़े रहे। हरित क्रांति के दो और प्रभाव हुए। पहला असर तो यह हुआ कि गरीब किसानों और भू-स्वामियों के बीच का अंतर मुखर हो उठा। इससे देश के विभिन्न हिस्सों में वामपंथी संगठनों के लिए गरीब किसानों को लामबंद करने के लिहाज से अनुकूल स्थिति पैदा हुई। दूसरे, हरित क्रांति के कारण कृषि में मङ्झोले दर्जे के किसानों यानी मध्यम श्रेणी के भू-स्वामित्व वाले किसानों का उभार हुआ। इन्हें बदलावों से फायदा हुआ था और देश के अनेक हिस्सों में ये प्रभावशाली बनकर उभरे।

बाद के बदलाव

1960 के दशक के अंत में भारत के आर्थिक विकास की कथा में एक नया मोड़ आता है। पाँचवें अध्याय में आप पढ़ेंगे कि नेहरू की मृत्यु के बाद कांग्रेस-प्रणाली संकट से घिरने लगी। इंदिरा गांधी जननेता बनकर उभरीं। उन्होंने फ़ैसला किया कि अर्थव्यवस्था के नियंत्रण और निर्देशन में राज्य और बड़ी भूमिका निभाएगा। 1967 के बाद की अवधि में निजी क्षेत्र के उद्योगों पर और बाधाएँ आयद हुईं। 14 निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। सरकार ने गरीबों की भलाई के लिए अनेक कार्यक्रमों की घोषणा की। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ सरकार का विचारधारात्मक रुझान समाजवादी नीतियों की तरफ बढ़ा। इन बदलावों को लेकर देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों में गर्मगर्म बहसें चलीं। विशेषज्ञों के बीच भी सरकार की नीतियों पर जोरदार बहसें चलीं।

बहरहाल, सरकारी नियंत्रण वाली अर्थव्यवस्था के पक्ष में बनी सहमति ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। नियोजन का काम तो जारी रहा लेकिन इसके महत्व में कमी आई।

1950 से 1980 के बीच भारत की अर्थव्यवस्था सालाना 3-3.5 प्रतिशत की धीमी रफ्तार से आगे बढ़ी। सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उद्यमों में भ्रष्टाचार और अकुशलता का जोर बढ़ा। नौकरशाही भी आर्थिक विकास में ज्यादा सकारात्मक भूमिका नहीं निभा रही थी। सार्वजनिक क्षेत्र अथवा नौकरशाही के प्रति शुरू-शुरू में लोगों में गहरा विश्वास था लेकिन बदले हुए माहौल में यह विश्वास टूट गया। जनता का भरोसा टूटा देख नीति-निर्माताओं ने 1980 के दशक के बाद से अर्थव्यवस्था में राज्य की भूमिका को कम कर दिया। इस बदलाव के बारे में हम पाठ्यपुस्तक के आखिरी हिस्से में पढ़ेंगे।

साथार: शंकर, 27 अगस्त 1961



प्रश्नावली

1. 'बॉम्बे प्लान' के बारे में निम्नलिखित में कौन-सा बयान सही नहीं है।

- (क) यह भारत के आर्थिक भविष्य का एक ब्लू-प्रिंट था।
- (ख) इसमें उद्योगों के ऊपर राज्य के स्वामित्व का समर्थन किया गया था।
- (ग) इसकी रचना कुछ अग्रणी उद्योगपतियों ने की थी।
- (घ) इसमें नियोजन के विचार का पुरजोर समर्थन किया गया था।

2. भारत ने शुरुआती दौर में विकास की जो नीति अपनाई उसमें निम्नलिखित में से कौन-सा विचार शामिल नहीं था?

- | | |
|-----------------|------------------|
| (क) नियोजन | (ख) उदारीकरण |
| (ग) सहकारी खेती | (घ) आत्मनिर्भरता |

3. भारत में नियोजित अर्थव्यवस्था चलाने का विचार-ग्रहण किया गया था:

- | | |
|---|--|
| (क) बॉम्बे प्लान से | (ख) सोवियत खेमे के देशों के अनुभवों से |
| (ग) समाज के बारे में गाँधीवादी विचार से | (घ) किसान संगठनों की माँगों से |

- | | |
|------------------|-------------------|
| (क) सिर्फ ख और घ | (ख) सिर्फ क और ख |
| (ग) सिर्फ घ और ग | (घ) उपर्युक्त सभी |

4. निम्नलिखित का मेल करें:

- | | |
|----------------------|-------------------|
| (क) चरण सिंह | (i) औद्योगीकरण |
| (ख) पी.सी. महालनोबिस | (ii) जोनिंग |
| (ग) बिहार का अकाल | (iii) किसान |
| (घ) वर्गीज कूरियन | (iv) सहकारी डेयरी |
5. आजादी के समय विकास के सवाल पर प्रमुख मतभेद क्या थे? क्या इन मतभेदों को सुलझा लिया गया?
6. पहली पंचवर्षीय योजना का किस चीज़ पर सबसे ज्यादा ज़ोर था? दूसरी पंचवर्षीय योजना पहली से किन अर्थों में अलग थी?
7. हरित क्रांति क्या थी? हरित क्रांति के दो सकारात्मक और दो नकारात्मक परिणामों का उल्लेख करें।
8. दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान औद्योगिक विकास बनाम कृषि विकास का विवाद चला था। इस विवाद में क्या-क्या तर्क दिए गए थे।
9. “अर्थव्यवस्था में राज्य की भूमिका पर ज़ोर देकर भारतीय नीति-निर्माताओं ने गलती की। अगर शुरुआत से ही निजी क्षेत्र को खुली छूट दी जाती तो भारत का विकास कहीं ज्यादा बेहतर तरीके से होता।” इस विचार के पक्ष या विपक्ष में अपने तर्क दीजिए।
10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

आजादी के बाद के आरंभिक वर्षों में कांग्रेस पार्टी के भीतर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ पनपीं। एक तरफ राष्ट्रीय पार्टी कार्यकारिणी ने राज्य के स्वामित्व का समाजवादी सिद्धांत अपनाया, उत्पादकता को बढ़ाने के साथ-साथ आर्थिक संसाधनों के संकेंद्रण को रोकने के लिए अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों का नियंत्रण और नियमन किया। दूसरी तरफ कांग्रेस की राष्ट्रीय सरकार ने निजी निवेश के लिए उदार आर्थिक नीतियाँ अपनाईं और उसके बढ़ावे के लिए विशेष कदम उठाए। इसे उत्पादन में अधिकतम वृद्धि की अकेली कसौटी पर जायज़ ठहराया गया।

– फ्रैंकिन फ्रैंकल

- | |
|--|
| (क) यहाँ लेखक किस अंतर्विरोध की चर्चा कर रहा है? ऐसे अंतर्विरोध के राजनीतिक परिणाम क्या होंगे? |
| (ख) अगर लेखक की बात सही है तो फिर बताएँ कि कांग्रेस इस नीति पर क्यों चल रही थी? क्या इसका संबंध विपक्षी दलों की प्रकृति से था? |
| (ग) क्या कांग्रेस पार्टी के केंद्रीय नेतृत्व और इसके प्रांतीय नेताओं के बीच भी कोई अंतर्विरोध था? |

प्रैक्टिक



माधवर : नेहरू मेमोरियल स्थीर्यम एवं लाइब्रेरी

इस अध्याय में...

यह तसवीर अक्टूबर 1960 में न्यूयार्क में गुटनिरपेक्ष देशों की एक संगोष्ठी की है। इसमें जवाहरलाल नेहरू धाना के एनकूमा, मिस्र के नासिर, इंडोनेशिया के सुकर्णो और युगोस्लाविया के टीटो के साथ नज़र आ रहे हैं।

अब तक हमने इस किताब में देश में हुए बदलाव और घरेलू चुनौतियों पर अपनी नज़र डाली है। इस अध्याय में हम बाहरी चुनौतियों के बारे में पढ़ेंगे। इस मोर्चे पर भी अपने देश के नेताओं ने नयी राह अपनायी और बाहरी चुनौतियों के मामले में गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन किया। बहरहाल, हमारे नेताओं को पड़ोसी देशों से हुए युद्धों से भी निपटना पड़ा। भारत को अपने पड़ोसी देशों से 1962, 1965 और 1971 में युद्ध लड़ना पड़ा था। इन लड़ाइयों और हमारे विदेशी संबंधों को देश की राजनीति ने एक शक्ल प्रदान की। देश की राजनीति स्वयं भी इस क्रम में प्रभावित हुई।

इस अध्याय में हम अंदरूनी और बाहरी राजनीति के इसी रिश्ते के बारे में पढ़ेंगे। इस अध्याय में चर्चा की जाएगी कि:

- भारत के विदेश संबंधों ने किन अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आकार ग्रहण किया;
- भारत की विदेश नीति किन सिद्धांतों से निर्देशित हुई;
- चीन और पाकिस्तान के साथ भारत के रिश्ते कैसे रहे; और
- भारत की परमाणु नीति का उद्भव किन स्थितियों में हुआ?

भारत के विदेश संबंध



12/12/2024

अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ

भारत बड़ी विकट और चुनौतीपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आज्ञाद हुआ था। दुनिया महायुद्ध की तबाही से अभी बाहर निकली थी और उसके सामने पुनर्निर्माण का सवाल प्रमुख था। एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था बनाने के प्रयास हो रहे थे और उपनिवेशवाद की समाप्ति के फलस्वरूप दुनिया के नक्शे पर नए देश नमूदार हो रहे थे। नए देशों के सामने लोकतंत्र कायम करने और अपनी जनता की भलाई करने की दोहरी चुनौती थी। स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारत ने जो विदेश नीति अपनाई उनमें हम इन सारे सरोकारों की झलक पाते हैं। वैश्विक स्तर के इन सरोकारों के अलावा भारत की कुछ अपनी चिंताएँ भी थीं। अंग्रेजी सरकार अपने पीछे अंतर्राष्ट्रीय विवादों की एक पूरी विरासत छोड़ गई थी; बँटवारे के कारण अलग से दवाब पैदा हुए थे और गरीबी मिटाने का काम सामने मुँह बाए खड़ा था। कुल जमा इन्हीं संदर्भों के बीच भारत ने एक स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य के रूप में अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भागीदारी शुरू की।

एक राष्ट्र के रूप में भारत का जन्म विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में हुआ था। ऐसे में भारत ने अपनी विदेश नीति में अन्य सभी देशों की संप्रभुता का सम्मान करने और शांति कायम करके अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने का लक्ष्य सामने रखा। इस लक्ष्य की प्रतिध्वनि संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में सुनाई देती है।

जिस तरह किसी व्यक्ति या परिवार के व्यवहारों को अंदरूनी और बाहरी कारक निर्देशित करते हैं उसी तरह एक देश की विदेश नीति पर भी घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण का असर पड़ता है। विकासशील देशों के पास अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भीतर अपने सरोकारों को पूरा करने के लिए जरूरी संसाधनों का अभाव होता है। इसके चलते वे बढ़े-चढ़े देशों की अपेक्षा बड़े सीधे-सादे लक्ष्यों को लेकर अपनी विदेश नीति तय करते हैं। ऐसे देशों का ज़ोर इस बात पर होता है कि उनके पड़ोस में अमन-चैन कायम रहे और विकास होता रहे। इसके अतिरिक्त, विकासशील देश आर्थिक और सुरक्षा की दृष्टि से ज्यादा ताकतवर देशों पर निर्भर होते हैं। इस निर्भरता का भी उनकी विदेश नीति पर जब-तब असर पड़ता है। दूसरे विश्वयुद्ध के तुरंत बाद के दौर में अनेक विकासशील देशों ने ताकतवर देशों की मर्जी को ध्यान में रखकर अपनी विदेश नीति अपनाई क्योंकि इन देशों से इन्हें अनुदान अथवा कर्ज मिल रहा था। इस बजह से दुनिया के विभिन्न देश दो खेमों में बँट गए। एक खेमा संयुक्त राज्य अमरीका और उसके समर्थक देशों के प्रभाव में रहा तो दूसरा खेमा सोवियत संघ के प्रभाव में। आपने इसके बारे में 'समकालीन विश्व राजनीति' नामक किताब में पढ़ा होगा। आपने इस किताब में गुटनिरपेक्ष-आंदोलन के बारे में भी पढ़ा होगा। आप इस किताब में पढ़ चुके हैं कि शीतयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संदर्भ पूरी तरह बदल गया। बहरहाल, जब भारत आज्ञाद हुआ था और अपनी विदेश नीति तैयार कर रहा था तब शीतयुद्ध शुरू ही हुआ था और दुनिया बड़ी तेज़ी से दो खेमों में बँटती जा रही थी।

“

आज्ञादी किन चीजों से बनती है? आज्ञादी बुनियादी तौर पर विदेश संबंधों से ही बनी होती है। यही आज्ञादी की कसौटी भी है। बाकी सारा कुछ तो स्थानीय स्वायत्ता है। एक बार विदेश संबंध आपके हाथ से निकलकर दूसरे के हाथ में चले जाएँ तो फिर जिस हद तक आपके हाथ से ये संबंध छूटे और जिन मसलों में छूटे-वहाँ तक आप आज्ञाद नहीं रहते।

”

जवाहरलाल नेहरू
संविधान सभा की एक बहस
के दौरान (मार्च 1949)

संवैधानिक सिद्धांत

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51 में 'अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के बढ़ावे' के लिए राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत के हवाले से कहा गया है कि राज्य :

- (क) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का,
- (ख) राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत और सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने का,
- (ग) संगठित लोगों के एक-दूसरे से व्यवहारों में अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधि-बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का, और
- (घ) अंतर्राष्ट्रीय विवादों को माध्यस्थम द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का, प्रयास करेगा।

क्या 1950 और 1960 के दशक की विश्व राजनीति में भारत इन दोनों में से किसी खेमे में शामिल था? क्या भारत अपनी विदेश नीति को शांतिपूर्ण ढंग से लागू करने और अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों से बचे रहने में सफल रहा?

गुटनिरपेक्षता की नीति

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अपने आप में कोई स्वतंत्र घटना नहीं हैं। पूरी दुनिया में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चल रहे थे और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन भी इसी विश्वव्यापी संघर्ष का हिस्सा था। इस आंदोलन का असर एशिया और अफ्रीका के कई मुक्ति आंदोलनों पर हुआ। आजादी मिलने से पहले भी भारत के राष्ट्रवादी नेता दुनिया के अन्य उपनिवेशों में मुक्ति संग्राम चला रहे नेताओं के संपर्क में थे। ये सभी नेता आखिर उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक साझी लड़ाई लड़ रहे थे। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान 'ईंडियन नेशनल आर्मी' (आई.एन.ए.) का गठन किया था। इससे साफ़-साफ़ ज़ाहिर होता है कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत के संबंध विदेशों में रह रहे भारतीयों से बन चुके थे।



चौथे अध्याय में एक बार फिर से जवाहरलाल नेहरू! क्या वे कोई सुपरमैन थे या, उनकी भूमिका महिमा-मंडित कर दी गई है?

किसी राष्ट्र की विदेश नीति से उसके अंदरूनी और बाहरी सरोकारों की ज़लक मिलती है। भारत का स्वतंत्रता आंदोलन जिन उदात्त विचारों से प्रेरित था उनका असर भारत की विदेश नीति पर भी पड़ा। बहरहाल, भारत को जिस वक्त आजादी हासिल हुई उस समय शीतयुद्ध का दौर भी शुरू हो चुका था। आप 'समकालीन विश्व राजनीति' की किताब के पहले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि शीतयुद्ध के दौर में दुनिया के देश दो खेमों में बँट रहे थे। एक खेमे का अगुआ संयुक्त राज्य अमरीका था और दूसरे का सोवियत संघ। दोनों खेमों के बीच विश्वस्तर पर अर्थिक, राजनीतिक और सैन्य टकराव जारी था। इसी दौर में संयुक्त राष्ट्र संघ भी अस्तित्व में आया; परमाणु हथियारों का निर्माण शुरू हुआ; चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना हुई। अनोपनिवेशीकरण की प्रक्रिया भी इसी दौर में आरंभ हुई थी। भारत के नेताओं को अपने राष्ट्रीय हित इसी संदर्भ के दायरे में साधने थे।

नेहरू की भूमिका

भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय एजेंडा तय करने में निर्णायक भूमिका निभाई। वे प्रधानमंत्री के साथ-साथ विदेश मंत्री भी थे। प्रधानमंत्री और विदेश मंत्री के रूप में 1946 से 1964 तक उन्होंने भारत की विदेश नीति की रचना और क्रियान्वयन पर गहरा प्रभाव डाला। नेहरू की विदेश नीति के तीन बड़े उद्देश्य थे- कठिन संघर्ष से प्राप्त संप्रभुता को बचाए रखना, क्षेत्रीय अखंडता को बनाए रखना और तेज़ रफ्तार से आर्थिक विकास करना। नेहरू इन उद्देश्यों को गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाकर हासिल करना चाहते थे। उन दिनों देश में कुछ पार्टियाँ और समूह ऐसे भी थे जिनका मानना था कि भारत को अमरीकी खेमे के साथ ज्यादा नज़दीकी बढ़ानी चाहिए क्योंकि इस खेमे की प्रतिष्ठा लोकतंत्र के हिमायती के रूप में थी। इस धारा पर सोचने वालों में डा. भीमराव अंबेडकर भी शामिल थे। साम्यवाद की विरोधी कुछ राजनीतिक पार्टियाँ भी चाहती थीं कि भारत अपनी विदेश नीति अमरीका के पक्ष में बनाए। ऐसे दलों में भारतीय जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी प्रमुख थे। लेकिन, विदेश नीति को तैयार करने के मामले में नेहरू को खासी बढ़त हासिल थी।

दो खेमों से दूरी

आजाद भारत की विदेश नीति में शांतिपूर्ण विश्व का सपना था और इसके लिए भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन किया। भारत ने इसके लिए शीतयुद्ध से उपर्ये तनाव को कम करने की कोशिश की और संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति-अभियानों में अपनी सेना भेजी। आप पूछ सकते हैं कि शीतयुद्ध के दौरान भारत किसी खेमे में क्यों शामिल नहीं हुआ? भारत, अमरीका और सोवियत संघ की अगुवाई वाले सैन्य गठबंधनों से अपने को दूर रखना चाहता था। ‘समकालीन विश्व राजनीति’ की किताब में आप पढ़ चुके हैं कि शीतयुद्ध के समय अमरीका ने उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO) और सोवियत संघ ने इसके जवाब में ‘वारसा पैक्ट’ नामक संधि संगठन बनाया था। भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति को आदर्श माना। संतुलन साधने की यह कठिन कोशिश थी और कभी-कभी संतुलन बहुत कुछ नहीं भी सध पाता था। 1956 में जब ब्रिटेन ने स्वेज नहर के मामले को लेकर मिस्र पर आक्रमण किया तो भारत ने इस नव-औपनिवेशिक हमले के विरुद्ध विश्वव्यापी विरोध की अगुवाई की। इसी साल सोवियत संघ ने हंगरी पर आक्रमण किया था लेकिन भारत ने सोवियत संघ के इस कदम की सार्वजनिक निंदा नहीं की। ऐसी स्थिति के बावजूद, कमोबेश भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर स्वतंत्र रवैया अपनाया। उसे दोनों खेमों के देशों ने सहायता और अनुदान दिए।

भारत अभी बाकी विकासशील देशों को गुटनिरपेक्षता की नीति के बारे में आश्वस्त करने में लगा था कि पाकिस्तान अमरीकी नेतृत्व वाले सैन्य-गठबंधन में शामिल हो गया। इस वजह से 1950 के दशक में भारत-अमरीकी संबंधों में खटास पैदा हो गई। अमरीका, सोवियत संघ से भारत की बढ़ती हुई दोस्ती को लेकर भी नाराज था।

आपने पिछले अध्याय में पढ़ा कि भारत ने नियोजित विकास की रणनीति अपनाई थी। इस नीति में ज़ोर आयात को कम करने पर था। इसमें संसाधन-आधार तैयार करने पर ज़ोर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप निर्यात के मामले में भी प्रगति बड़ी सीमित थी। विकास की इस रणनीति के कारण बाहरी दुनिया से भारत का आर्थिक लेन-देन बड़ा सीमित था।

“

आमतौर पर हमारी नीति ताकत की राजनीति से अपने को अलग रखने और महाशक्तियों के एक खेमे के विरुद्ध दूसरे खेमे में शामिल न होने की है। आज दो अग्रणी खेमे रूस और अमरीका-ब्रिटेन के हैं। हमें दोनों के साथ दोस्ताना संबंध रखना है साथ ही उनके खेमे में शामिल भी नहीं होना है। रूस और अमरीका एक-दूसरे को लेकर बहुत शक्ति हैं और अन्य देशों पर भी शक करते हैं। इस कारण हमारा रास्ता कठिन है और दोनों हम पर शक कर सकते हैं कि हम उनके विरोधी खेमे की तरफ झुक रहे हैं। इससे बचा नहीं जा सकता।

”

जवाहरलाल नेहरू
के.पी.एस. मेनन को एक पत्र में (जनवरी, 1947)



हम लोग आज की बनिस्बत जब ज्यादा गरीब, कमज़ोर और नए थे तो शायद दुनिया में हमारी पहचान कहीं ज्यादा थी। है ना विचित्र बात?

“....ताकत के तीनों साधनों - संपदा, धन और जन - से हीन एक देश अब बड़ी तेज़ी से सभ्य जगत में एक नैतिक ताकत के रूप में पहचान हासिल कर रहा है उसकी आवाज़ को दिग्गज देशों की जमात में बड़ी इज्जत के साथ सुना जाता है..”

सी राजगोपालाचारी
एडविना माउंटबेटन को एक
पत्र में, 1950

एफ्रो-एशियाई एकता

भारत के आकार, अवस्थिति और शक्ति-संभावना को भाँपकर नेहरू ने विश्व के मामलों, खासकर एशियाई मामलों में भारत के लिए बड़ी भूमिका निभाने का स्वप्न देखा था। नेहरू के दौर में भारत ने एशिया और अफ्रीका के नव-स्वतंत्र देशों के साथ संपर्क बनाए। 1940 और 1950 के दशकों में नेहरू बड़े मुखर स्वर में एशियाई एकता की पैरोकारी करते रहे। नेहरू की अगुवाई में भारत ने 1947 के मार्च में ही एशियाई संबंध सम्मेलन (एशियन रिलेशंस काफ़ेरेंस) का आयोजन कर डाला था जबकि अभी भारत को आजादी मिलने में पाँच महीने शेष थे। भारत ने इंडोनेशिया की आजादी के लिए भरपूर प्रयास किए। भारत चाहता था कि इंडोनेशिया डच औपनिवेशिक शासन से यथासंभव शीघ्र मुक्त हो जाए। इसके लिए भारत ने 1949 में इंडोनेशिया के स्वतंत्रता-संग्राम के समर्थन में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया। भारत अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का प्रबल समर्थक था और उसने पूरी दृढ़ता से नस्लवाद का, खासकर दक्षिण अफ्रीका में जारी रंगभेद का विरोध किया। इंडोनेशिया के एक शहर बांडुंग में एफ्रो-एशियाई सम्मेलन 1955 में हुआ। आमतौर पर हम इसे बांडुंग-सम्मेलन के नाम से जानते हैं। अफ्रीका और एशिया के नव-स्वतंत्र देशों के साथ भारत के बढ़ते संपर्क का यह चरम बिंदु था। बांडुंग-सम्मेलन में ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नींव पड़ी। गुटनिरपेक्ष आंदोलन का पहला सम्मेलन 1961 के सितंबर में बेलग्रेड में हुआ। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में नेहरू की महती भूमिका रही थी। (देखें, ‘समकालीन विश्व राजनीति’ अध्याय-1)

चीन के साथ शांति और संघर्ष

पाकिस्तान के साथ अपने संबंधों के विपरीत आजाद भारत ने चीन के साथ अपने रिश्तों की शुरुआत बड़े दोस्ताना ढंग से की। चीनी क्रांति 1949 में हुई थी। इस क्रांति के बाद भारत, चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता देने वाले पहले देशों में एक था। पश्चिमी प्रभुत्व के चंगुल से निकलने वाले इस देश को लेकर नेहरू के हृदय में गहरे भाव थे और उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय फ़लक पर इस सरकार की मदद की। नेहरू के कुछ सहयोगियों-मसलन सरदार बल्लभ भाई पटेल को आशंका थी कि आगामी दिनों में चीन भारत पर चढ़ाई कर सकता है। लेकिन नेहरू सोच रहे थे कि भारत पर चीन के आक्रमण की संभावना दूर-दूर तक नहीं है। बहुत दिनों से भारत की चीन से लगती सीमा पर सेना के बजाय अर्द्ध-सैनिक बल रखवाली कर रहे थे।

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पाँच सिद्धांतों यानी पंचशील की घोषणा भारत के प्रधानमंत्री नेहरू और चीन के प्रमुख चाऊ एन लाई ने संयुक्त रूप से 29 अप्रैल 1954 में की। दोनों देशों के बीच मजबूत संबंध की दिशा में यह एक अगला कदम था। भारत और चीन के नेता एक-दूसरे के देश का दौरा करते थे और उनके स्वागत में बड़ी भीड़ जुटती थी।

चीन का आक्रमण, 1962

चीन के साथ भारत के इस दोस्ताना रिश्ते में दो कारणों से खटास आई। चीन ने 1950 में तिब्बत पर कब्ज़ा कर लिया। इससे भारत और चीन के बीच ऐतिहासिक रूप से जो एक मध्यवर्ती राज्य बना चला आ रहा था, वह खत्म हो गया। शुरू-शुरू में भारत सरकार ने



तिब्बत

यह मध्य एशिया का मशहूर पठार है। ऐतिहासिक रूप से तिब्बत भारत और चीन के बीच विवाद का एक बड़ा मसला रहा है। अतीत में समय-समय पर चीन ने तिब्बत पर अपना प्रशासनिक नियंत्रण जataया और कई दफा तिब्बत आज़ाद भी हुआ। 1950 में चीन ने तिब्बत पर नियंत्रण कर लिया। तिब्बत के ज्यादातर लोगों ने चीनी कब्जे का विरोध किया। 1954 में जब भारत और चीन के बीच पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर हुए तो इसके प्रावधानों में एक बात यह भी शामिल थी कि दोनों देश एक-दूसरे की क्षेत्रीय संप्रभुता का सम्मान करेंगे। चीन ने इस प्रावधान का अर्थ लगाया कि भारत तिब्बत पर चीनी दावेदारी की बात को स्वीकार कर रहा है। 1956 में चीनी शासनाध्यक्ष चाऊ एन लाई भारत के आधिकारिक दौरे पर

आए तो साथ ही साथ तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा भी भारत पहुँचे। उन्होंने तिब्बत की बिगड़ती स्थिति की जानकारी नेहरू को दी। चीन आश्वासन दे चुका था कि तिब्बत को चीन के अन्य इलाकों से कहीं ज्यादा स्वायत्ता दी जाएगी। 1958 में चीनी आधिपत्य के विरुद्ध तिब्बत में सशस्त्र विद्रोह हुआ। इस विद्रोह को चीन की सेनाओं ने दबा दिया। स्थिति बिगड़ती देखकर तिब्बत के पारंपरिक नेता दलाई लामा ने सीमा पारकर भारत में प्रवेश किया और 1959 में भारत से शरण माँगी। भारत ने दलाई लामा को शरण दे दी। चीन ने भारत के इस कदम का कड़ा विरोध किया। पिछले 50 सालों में बड़ी संख्या में तिब्बती जनता ने भारत और दुनिया के अन्य देशों में शरण ली है। भारत में (खासकर दिल्ली में) तिब्बती शरणार्थियों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ हैं। हिमाचल प्रदेश के धर्मशाला में संभवतया तिब्बती शरणार्थियों की सबसे बड़ी बस्ती है। दलाई लामा ने भी भारत में धर्मशाला को ही अपना निवास-स्थान बनाया है। 1950 और 1960 के दशक में भारत के अनेक राजनीतिक दल और राजनेताओं ने तिब्बत की आज़ादी के प्रति अपना समर्थन जताया। इन दलों में सोशलिस्ट पार्टी और जनसंघ शामिल हैं।

चीन ने 'स्वायत्त तिब्बत क्षेत्र' बनाया है और इस इलाके को वह चीन का अधिन अंग मानता है। तिब्बती जनता चीन के इस दावे को नहीं मानती कि तिब्बत चीन का अधिन अंग है। ज्यादा से ज्यादा संख्या में चीनी बांशिदों को तिब्बत लाकर वहाँ बसाने की चीन की नीति का तिब्बती जनता ने विरोध किया। तिब्बती चीन के इस दावे को भी नकारते हैं कि तिब्बत को स्वायत्ता दी गई है। वे मानते हैं कि तिब्बत की पारंपरिक संस्कृति और धर्म को नष्ट करके चीन वहाँ साम्यवाद फैलाना चाहता है।

टोट: यह नक्शा किसी माने के हिसाब से नाया गया भारत का अनचित्र नहीं है। इसमें दर्खाई गई भारत की संतरीष्टीय सीमा रेखा ने प्रामाणिक सीमा रेखा माना जाए।



चीन के साथ 1960 में सीमा विवाद उठा। नेहरू और माओत्से तुंग के बीच बातचीत व्यर्थ साबित हुई।

The Hindustan Times Weekly

Indian troops fall back in NEFA and Ladakh

Dhola, Khinzemane posts abandoned

Chinese advance pushed at heavy cost

By our Special Correspondent
Oct. 29—Hostile Indian troops fighting Chinese invaders retreated on the NEFA front.

We will not live

1962

Killed in
Nalibpur
Firing
incidents
China has numerical
and logistic edge
Nehru
says C

Hindi Chini Bye Bye?

Amul
Attack this instead



वी.के. कृष्णमेनन
(1897-1974) :
राजनयिक एवं मंत्री;
1934-1947 के बीच
इंग्लैंड की लेबर पार्टी
में सक्रिय; इंग्लैंड में
भारतीय उच्चायुक्त एवं

बाद में संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधिमंडल
के मुखिया; राज्यसभा के सांसद एवं बाद
में लोकसभा सांसद; 1956 से संघ केबिनेट
के सदस्य; 1957 से रक्षा मंत्री; 1962 में
भारत-चीन युद्ध के
बाद इस्तीफा।



“

सच कहूँ तो उनको
(चाऊ एन लाई) लेकर
मेरे मन में बड़े अच्छे भाव
जागे... मेरा ख्याल है कि चीन
के शासनाध्यक्ष अच्छे इन्सान
हैं और उन पर भरोसा किया
जा सकता है।

”

सी. राजगोपालाचारी
एक पत्र में, दिसंबर 1956

मैंने
सुना है कि
1962 के युद्ध के बाद
जब लता मंगेशकर ने ‘ऐ
मेरे बतन के लोगों ... गाया तो
नेहरू भरी सभा में रो पड़े थे।
बड़ा अजीब लगता है यह सोचकर
कि इतने बड़े लोग भी किसी
भावुक लम्हे में रो
पड़ते हैं!



चीन के इस कदम का खुले तौर पर विरोध नहीं किया। बहरहाल, तिब्बत की संस्कृति को कुचलने की खबरें जैसे-जैसे सामने आने लगी, वैसे-वैसे भारत की बेचैनी भी बढ़ी। तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा ने भारत से राजनीतिक शरण माँगी और 1959 में भारत ने उन्हें शरण दे दी। चीन ने आरोप लगाया कि भारत सरकार अंदरूनी तौर पर चीन विरोधी गतिविधियों को हवा दे रही है।

इससे कुछ दिनों पहले भारत और चीन के बीच एक सीमा-विवाद भी उठ खड़ा हुआ था। भारत का दावा था कि चीन के साथ सीमा-रेखा का मामला अंग्रेजी-शासन के समय ही सुलझाया जा चुका है। लेकिन चीन की सरकार का कहना था कि अंग्रेजी शासन के समय का फैसला नहीं माना जा सकता। मुख्य विवाद चीन से लगी लंबी सीमा-रेखा के पश्चिमी और पूर्वी छोर के बारे में था। चीन ने भारतीय भू-क्षेत्र में पड़ने वाले दो इलाकों—जम्मू-कश्मीर के लद्दाख वाले हिस्से के अक्साई-चीन और अरुणाचल प्रदेश—के अधिकांश हिस्सों पर अपना अधिकार जताया। अरुणाचल प्रदेश को उस समय नेफा या उत्तर-पूर्वी सीमांत कहा जाता था। 1957 से 1959 के बीच चीन ने अक्साई-चीन इलाके पर कब्जा कर लिया और इस इलाके में उसने रणनीतिक बढ़त हासिल करने के लिए एक सड़क बनाई। दोनों देशों के शीर्ष नेताओं के बीच लंबी-लंबी चर्चाएँ और बातचीत चली लेकिन इसके बावजूद मतभेद को सुलझाया नहीं जा सका। दोनों देशों की सेनाओं के बीच सीमा पर कई बार झड़प हुई।

‘समकालीन विश्व राजनीति’ के पहले अध्याय में क्यूबा के मिसाइल-संकट की चर्चा की गई थी। क्या आपको इस घटना की याद है? जिस समय पूरे विश्व का ध्यान दो महाशक्तियों की तनातनी से पैदा इस संकट की तरफ लगा हुआ था, ठीक उसी समय चीन ने 1962 के अक्टूबर में दोनों विवादित क्षेत्रों पर बड़ी तेजी तथा व्यापक स्तर पर हमला किया। पहला हमला एक हफ्ते तक चला और इस दौरान चीनी सेना ने अरुणाचल प्रदेश के कुछ महत्वपूर्ण इलाकों पर कब्जा कर लिया। हमले का अगला दौर नवंबर महीने में शुरू हुआ। लद्दाख से लगे पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय सेना ने चीन की बढ़त रोकी लेकिन पूर्व में चीनी सेना आगे बढ़ते हुए असम के मैदानी हिस्से के प्रवेशद्वार तक पहुँच गई। आखिरकार, चीन ने एकतरफा युद्धविराम घोषित किया और चीन की सेनाएँ उस मुकाम पर लौट गईं जहाँ वे हमले से पहले के बक्त में तैनात थीं।

चीन-युद्ध से भारत की छवि को देश और विदेश दोनों ही जगह धक्का लगा। इस संकट से उबरने के लिए भारत को अमरीका और ब्रिटेन दोनों से सैन्य मदद की गुहार लगानी पड़ी। सोवियत संघ इस संकट की घड़ी में तटस्थ बना रहा। चीन-युद्ध से भारतीय राष्ट्रीय स्वाभिमान को चोट पहुँची लेकिन इसके साथ-साथ राष्ट्र-भावना भी बलवती हुई। कुछ प्रमुख सैन्य-कमांडरों ने या तो इस्तीफा दे दिया या अवकाश ग्रहण कर लिया। नेहरू के नजदीकी सहयोगी और तत्कालीन रक्षामंत्री वी. के. कृष्णमेनन को भी मर्तिमंडल छोड़ना पड़ा। नेहरू की छवि भी थोड़ी धूमिल हुई। चीन के इरादों को समय रहते न भाँप सकने और सैन्य तैयारी न कर पाने को लेकर नेहरू की बड़ी आलोचना हुई। पहली बार, उनकी सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया और लोकसभा में इस पर बहस हुई। इसके तुरंत बाद, कांग्रेस ने कुछ महत्वपूर्ण उप-चुनावों में पटखनी खाई। देश का राजनीतिक मानस बदलने लगा था।

कुछ आगे की...

1962 के बाद भारत-चीन संबंध

भारत और चीन के बीच संबंधों को सामान्य होने में करीब दस साल लग गए। 1976 में दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक संबंध बहाल हो सके। शीर्ष नेता के तौर पर पहली बार अटल बिहारी वाजपेयी (वे तब विदेश मंत्री थे) 1979 में चीन के दौरे पर गए। बाद में, नेहरू के बाद राजीव गांधी बतौर प्रधानमंत्री चीन के दौरे पर गए। इसके बाद से चीन के साथ भारत के संबंधों में ज्यादा जोर व्यापारिक मसलों पर रहा है। 'समकालीन विश्व राजनीति' की किताब में आप इन बातों को पढ़ चुके हैं।

भारत चीन संघर्ष का असर विपक्षी दलों पर भी हुआ। इस युद्ध और चीन-सोवियत संघ के बीच बढ़ते मतभेद से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) के अंदर बड़ी उठा-पटक मची। सोवियत संघ का पक्षधर खेमा भाकपा में ही रहा और उसने कांग्रेस के साथ नजदीकी बढ़ायी। दूसरा खेमा कुछ समय के लिए चीन का पक्षधर रहा और यह खेमा कांग्रेस के साथ किसी भी तरह की नजदीकी के खिलाफ़ था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1964 में टूट गई। इस पार्टी के भीतर जो खेमा चीन का पक्षधर था उसने मार्क्सवादी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.एम.-माकपा) बनाई। चीन-युद्ध के क्रम में माकपा के कई नेताओं को चीन का पक्ष लेने के आरोप में गिरफ्तार किया गया।

चीन के साथ हुए युद्ध ने भारत के नेताओं को पूर्वोत्तर की डावाँडोल स्थिति के प्रति सचेत किया। यह इलाका अत्यंत पिछड़ी दशा में था और अलग-थलग पड़ गया था। राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिहाज से भी यह इलाका चुनौतीपूर्ण था। चीन-युद्ध के तुरंत बाद इस इलाके को नयी तरतीब में ढालने की कोशिशें शुरू की गईं। नगालैंड को प्रांत का दर्जा दिया गया। मणिपुर और त्रिपुरा हालाँकि केंद्र-शासित प्रदेश थे लेकिन उन्हें अपनी विधानसभा के निर्वाचन का अधिकार मिला।

स्थित-संसार

हकीकत



इस फिल्म की पृष्ठभूमि में 1962 के चीनी आक्रमण को दर्शाया गया है। भारतीय सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी लद्दाख क्षेत्र में घिर गई है। सेना का कप्तान बहादुर सिंह स्थानीय घुमंतू कबीले की एक लड़की कम्मो की मदद से इस टुकड़ी को बाहर निकालने की कोशिश करता है। इस कोशिश में बहादुर सिंह और कम्मो दोनों शहीद हो जाते हैं। भारतीय टुकड़ी के जवान पूरे प्राणपण से चीनी हमलावरों से मुकाबला करते

हैं परंतु अंततः उन्हें अपनी जान न्यौछावर करनी पड़ती है।

यह फिल्म सेना के जवान के सामने आने वाली चुनौतियों, दिक्कतों के साथ-साथ चीनी विश्वासघात से उपजी राजनीतिक निराशा का भी मुआयना करती है। इस फिल्म में युद्ध के दृश्यों को रचने के लिए डाक्युमेंटरी फुटेज का काफी इस्तेमाल किया गया है। हकीकत युद्ध आधारित फिल्मों की विधा में अहम स्थान रखती है।

वर्ष : 1964

निर्देशक : चेतन आनंद

अभिनय : धर्मेंद्र, प्रिया राजवंश, बलराज साहनी, जयंत, सुधीर, संजय खान, विजय आनंद

पाकिस्तान के साथ युद्ध और शांति

कश्मीर मसले को लेकर पाकिस्तान के साथ बँटवारे के तुरंत बाद ही संघर्ष छिड़ गया था। आप इस विवाद के बारे में आठवें अध्याय में विस्तार से पढ़ सकते हैं। 1947 में ही कश्मीर में भारत और पाकिस्तान की सेनाओं के बीच एक छाया-युद्ध छिड़ गया था। बहरहाल, यह संघर्ष पूर्णव्यापी युद्ध का रूप न ले सका। यह मसला फिर संयुक्त राष्ट्र संघ के हवाले कर दिया गया। संयुक्त राज्य अमरीका और चीन के साथ भारत के संबंधों के लिहाज़ से पाकिस्तान एक महत्वपूर्ण घटक रहा।

कश्मीर के सवाल पर हुए संघर्ष के बावजूद भारत और पाकिस्तान की सरकारों के बीच सहयोग-संबंध कायम हुए। दोनों सरकारों ने मिल-जुल कर प्रयास किया कि बँटवारे के समय जो महिलाएँ अपहृत हुई थीं उन्हें अपने परिवार के पास वापस लौटाया जा सके। विश्व बैंक की मध्यस्थता से नदी जल में हिस्सेदारी को लेकर चला आ रहा एक लंबा विवाद सुलझा लिया गया। नेहरू और जनरल अयूब खान ने सिंधु नदी जल संधि पर 1960 में हस्ताक्षर किए। भारत-पाक संबंधों में नरमी-गरमी के बावजूद इस संधि पर ठीक-ठाक अमल होता रहा।

दोनों देशों के बीच 1965 में कहीं ज्यादा गंभीर किस्म के सैन्य-संघर्ष की शुरुआत हुई। आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे कि इस वक्त लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री थे। 1965 के अप्रैल में पाकिस्तान ने गुजरात के कच्छ इलाके के रन में सैनिक हमला बोला। इसके बाद जम्मू-कश्मीर में उसने अगस्त-सितंबर के महीने में बड़े पैमाने पर हमला किया। पाकिस्तान के नेताओं को उम्मीद थी कि जम्मू-कश्मीर की जनता उनका समर्थन करेगी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कश्मीर के मोर्चे पर पाकिस्तानी सेना की बढ़त को रोकने के लिए प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने पंजाब की सीमा की तरफ से जवाबी हमला करने के आदेश दिए। दोनों देशों की सेनाओं के बीच घनघोर लड़ाई हुई और भारत की सेना आगे बढ़ते हुए लाहौर के नजदीक तक पहुँच गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से इस लड़ाई का अंत हुआ। बाद में, भारतीय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के जनरल अयूब खान के बीच 1966 में ताशकंद-समझौता हुआ। सोवियत संघ ने इसमें मध्यस्थ की भूमिका निभाई। हालाँकि 1965 की लड़ाई में भारत ने पाकिस्तान को बहुत ज्यादा सैन्य क्षति पहुँचाई लेकिन इस युद्ध से भारत की कठिन आर्थिक स्थिति पर और ज्यादा बोझ पड़ा।

बांग्लादेश युद्ध, 1971

1970 में पाकिस्तान के सामने एक गहरा अंदरूनी संकट आ खड़ा हुआ। पाकिस्तान के पहले आम चुनाव में खंडित जनादेश आया। जुलिफकार अली भुट्टो की पार्टी पश्चिमी पाकिस्तान में विजयी रही जबकि मुजीबुर्रहमान की पार्टी अवामी लीग ने पूर्वी पाकिस्तान में ज़ोरदार कामयाबी हासिल की। पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं के हाथों अपने साथ हुए दोयम दर्जे के नागरिक के बरताव के विरोध में पूर्वी पाकिस्तान की बंगली जनता ने इस पार्टी को बोट दिया था। पाकिस्तान के शासक इस जनादेश को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। अवामी लीग एक परिसंघ बनाने की माँग कर रही थी लेकिन वे इस माँग को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे।





The Times of India

EDN. NO. 2311

NO. 245 VOL. CXXVII • BOMBAY: TUESDAY, SEPTEMBER 7, 1965

16 PAISE



OUR TROOPS ON OUTSKIRTS OF LAHORE IAF Planes Blast Military Installations PAK FORCES ON THE RUN IN CHHAMB AREA Jaurian In Flames: Success In Uri Sector Too



BLACK-OUT IS ORDERED IN GREATER BOMBAY

By A Staff Reporter
BOMBAY You have ordered in Greater Bombay was immediately offered by the Com- missioner of Police under the Defense of India Rules.

The "black-out" will be during the hours between half an hour after sunset and half an hour before sunrise, starting at 8 p.m. on Saturday evening.

In view of the deteriorating situation in the frontier areas, it has been decided to impose a curfew from 10 p.m. to 5 a.m.

Indo-Pak Flights Cancelled



The Hindustan Times

BALKOT-PASRUR RAILWAY TAKEN

IAF pounds Sargodha,
Chak Jhumra airports
withdrawing in
Jhang sector

1965



इस

बात से तो ऐसा
जान पड़ता है कि
भारत, सोवियत खेमे में
शामिल हो गया था। क्या
सोवियत संघ के साथ इस
20-वर्षीय संधि पर हस्ताक्षर
करने के बावजूद हम
कह सकते हैं कि भारत
गुटनिरपेक्षता की नीति
पर अमल कर रहा
था?



इसकी जगह पाकिस्तानी सेना ने 1971 में शेख मुजीब को गिरफ्तार कर लिया और पूर्वी पाकिस्तान के लोगों पर जुल्म ढाने शुरू किए। जवाब में पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने अपने इलाके यानी मौजूदा बांग्लादेश को पाकिस्तान से मुक्त कराने के लिए संघर्ष छेड़ दिया। 1971 में पूरे साल भारत को 80 लाख शरणार्थियों का बोझ वहन करना पड़ा। ये शरणार्थी पूर्वी पाकिस्तान से भागकर भारत के नजदीकी इलाकों में शरण लिए हुए थे। भारत ने बांग्लादेश के 'मुक्ति संग्राम' को नैतिक समर्थन और भौतिक सहायता दी। पाकिस्तान ने आरोप लगाया कि भारत उसे तोड़ने की साजिश कर रहा है।

पाकिस्तान को अमरीका और चीन ने मदद की। 1960 के दशक में अमरीका और चीन के बीच संबंधों को सामान्य करने की कोशिश चल रही थी और इससे एशिया में सत्ता-समीकरण नया रूप ले रहा था। अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के सलाहकार हेनरी किसिंजर ने 1971 के जुलाई में पाकिस्तान होते हुए गुपचुप चीन का दौरा किया। अमरीका-पाकिस्तान-चीन की धुरी बनती देख भारत ने इसके जवाब में सोवियत संघ के साथ 1971 में शांति और मित्रता की एक 20-वर्षीय संधि पर दस्तखत किए। संधि से भारत को इस बात का आश्वासन मिला कि हमला होने की सूरत में सोवियत संघ भारत की मदद करेगा।

महीनों राजनीतिक तनाव और सैन्य तैनाती के बाद 1971 के दिसंबर में भारत और पाकिस्तान के बीच एक पूर्णव्यापी युद्ध छिड़ गया। पाकिस्तान के लड़ाकू विमानों ने पंजाब और राजस्थान पर हमले किए जबकि उसकी सेना ने जम्मू-कश्मीर में अपना मोर्चा खोला। जवाब में भारत ने अपनी वायुसेना, नौसेना और थलसेना के बूते पश्चिमी और पूर्वी मोर्चे से कार्रवाई की। स्थानीय लोगों के समर्थन और स्वागत के बीच भारतीय सेना पूर्वी पाकिस्तान में तेज़ी से आगे बढ़ी। दस दिनों के अंदर भारतीय सेना ने ढाका को तीन तरफ से घेर लिया और अपने 90,000 सैनिकों के साथ पाकिस्तानी सेना को आत्म-समर्पण करना पड़ा। बांग्लादेश के रूप में एक स्वतंत्र राष्ट्र के उदय के साथ भारतीय सेना ने अपनी तरफ से एकतरफा युद्ध-विराम घोषित कर दिया। बाद में, 3 जुलाई 1972 को इंदिरा गाँधी और जुलिफ्कार अली भुट्टो के बीच शिमला-समझौते पर दस्तखत हुए और इससे अमन की बहाली हुई।

कुछ आगे की...

करगिल संघर्ष



1999 के शुरुआती महीनों में भारतीय इलाके की नियंत्रण सीमा रेखा के कई ठिकानों जैसे द्रास, माशकोह, काकसर और बतालिक पर अपने को मुजाहिदीन बताने वालों ने कब्ज़ा कर लिया था। पाकिस्तानी सेना की इसमें मिलीभगत भाँप कर भारतीय सेना इस कब्जे के खिलाफ हरकत में आयी। इससे दोनों देशों के बीच संघर्ष छिड़ गया। इसे 'करगिल की लड़ाई' के नाम से जाना जाता है। 1999 के मई-जून में यह लड़ाई जारी रही। 26 जुलाई 1999 तक भारत अपने अधिकतर ठिकानों पर पुनः अधिकार कर चुका था। करगिल की लड़ाई ने पूरे विश्व का ध्यान खींचा था क्योंकि इससे ठीक एक साल पहले दोनों देश परमाणु हथियार बनाने की अपनी क्षमता का प्रदर्शन कर चुके थे। बहरहाल, यह लड़ाई सिर्फ़ करगिल के इलाके तक ही सीमित रही। पाकिस्तान में, इस लड़ाई को लेकर बहुत विवाद मचा। कहा गया कि सेना के प्रमुख ने प्रधानमंत्री को इस मामले में अँधेरे में रखा था। इस लड़ाई के तुरंत बाद पाकिस्तान की हुकूमत पर जनरल परवेज मुशर्रफ की अगुवाई में पाकिस्तानी सेना ने नियंत्रण कर लिया।



STOCK NO. 5425
Published from Jaspur, State of Rajasthan.

PRINTED FROM STERLING TYPE AND MANUFACTURED

BY THE TIMES OF INDIA

SATURDAY, DECEMBER 16, 1972



THE TIMES OF INDIA

YAHYA YIELDS TO INDIRA, ENDS WAR

**Somersault by General as
1971 S. hails Delhi
keeps out**



Gen. A. A. K. Niazi signing the surrender document in Dhaka on Thursday. Lt.-Gen. N. S. Venkateswaran, Air Marshal R. C. Dewan, Lt.-Gen. S. N. Venkateswaran, Vice Admiral S. K. Bhattacharya, Air Marshal R. C. Dewan, Lt.-Gen. S. N. Venkateswaran, and Lt.-Gen. N. S. Venkateswaran are seen in the background.

Remain alert, warn



The surrender document

THE HINDUSTAN TIMES

Aug. 16, 1972

Hindustan Times Weekly 16/1972

Twenty Five

MUJIB TAKES OVER 'BANGLA DESH'

Times Price

JAMES



PAK PLANES BOMB BANGLA DESH

Baluchistan,
NWFP are
also free?

2019-20

**Freedom fighters
Burn up bridges**



Cong(N)
majority
in UP now

युद्ध में इस निर्णायक जीत से देश में उत्साह की लहर दौड़ गई थी। अधिकांश भारतीयों ने इसे गौरव की घड़ी के रूप में देखा और माना कि भारत का सैन्य-पराक्रम प्रबल हुआ है। आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे कि इंदिरा गाँधी इस वक्त भारत की प्रधानमंत्री थीं। 1971 के लोकसभा चुनावों में उन्हें विजय मिली थी। 1971 की जंग के बाद इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता को चार चाँद लग गए। इस युद्ध के बाद अधिकतर राज्यों में विधानसभा के चुनाव हुए और अनेक राज्यों में कांग्रेस पार्टी बड़े बहुमत से जीती।

भारत ने अपने सीमित संसाधनों के साथ नियोजित विकास की शुरुआत की थी। पड़ोसी देशों के साथ संघर्ष के कारण पंचवर्षीय योजना पटरी से उत्तर गई। 1962 के बाद भारत को अपने सीमित संसाधन खासतौर से रक्षा क्षेत्र में लगाने पड़े। भारत को अपने सैन्य ढाँचे का आधुनिकीकरण करना पड़ा। 1962 में रक्षा-उत्पाद विभाग और 1965 में रक्षा आपूर्ति विभाग की स्थापना हुई। तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66) पर असर पड़ा और इसके बाद लगातार तीन एक-वर्षीय योजना पर अमल हुआ। चौथी पंचवर्षीय योजना 1969 में ही शुरू हो सकी। युद्ध के बाद भारत का रक्षा-व्यय बहुत ज्यादा बढ़ गया।

भारत की परमाणु नीति

इस दौर की एक खास बात थी भारत का परमाणु विस्फोट। भारत ने 1974 के मई में परमाणु परीक्षण किया। तेज़ गति से आधुनिक भारत के निर्माण के लिए नेहरू ने हमेशा विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर अपना विश्वास जताया था। नेहरू की औद्योगिकरण की नीति का एक महत्वपूर्ण घटक परमाणु कार्यक्रम था। इसकी शुरुआत 1940 के दशक के अंतिम सालों में होमी जहाँगीर भाभा के निर्देशन में हो चुकी थी। भारत शांतिपूर्ण उद्देश्यों में इस्तेमाल के लिए अणु ऊर्जा बनाना चाहता था। नेहरू परमाणु हथियारों के खिलाफ थे। उन्होंने महाशक्तियों पर व्यापक परमाणु निशस्त्रीकरण के लिए जोर दिया। बहरहाल, परमाणु आयुधों में बढ़ोत्तरी होती रही। साम्यवादी शासन वाले चीन ने 1964 के अक्टूबर में परमाणु परीक्षण किया। अणुशक्ति-संपन्न बिरादरी यानी संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, क्रांस और चीन ने, जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य भी थे, दुनिया के अन्य देशों पर 1968 की परमाणु अप्रसार संधि को थोपना चाहा। भारत हमेशा से इस संधि को भेदभावपूर्ण मानता आया था। भारत ने इस पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया था। भारत ने जब अपना पहला परमाणु परीक्षण किया तो इसने शांतिपूर्ण परीक्षण करार दिया। भारत का कहना था कि वह अणुशक्ति को सिर्फ शांतिपूर्ण उद्देश्यों में इस्तेमाल करने की अपनी नीति के प्रति दृढ़ संकल्प है।

जिस वक्त परमाणु परीक्षण किया गया था वह दौर घरेलू राजनीति के लिहाज से बड़ा कठिन था। 1973 में अरब-इजरायल युद्ध हुआ था। इसके बाद पूरे विश्व में तेल के लिए हाहाकार मचा हुआ था। अरब राष्ट्रों ने तेल के दामों में भारी वृद्धि कर दी थी। भारत इस बजाए से आर्थिक समस्याओं से घिर गया। भारत में मुद्रास्फीति बहुत ज्यादा बढ़ गई। जैसा कि आप छठे अध्याय में पढ़ेंगे, इस वक्त देश में कई आंदोलन चल रहे थे और इसी समय देशव्यापी रेल-हड़ताल भी हुई थी।

बड़ा
घनचक्कर है!
क्या यहाँ सारा मामला
परमाणु बम बनाने का
नहीं है? हम ऐसा
सीधे-सीधे क्यों नहीं
कहते।



हालाँकि राजनीतिक दलों के बीच विदेश नीति के बारे में छोटे-मोटे मतभेद जरूर हैं लेकिन भारतीय राजनीति में विभिन्न दलों के बीच राष्ट्रीय अखंडता, अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा की सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के मसलों पर व्यापक सहमति है। इस कारण, हम देखते हैं कि 1962-1971 के बीच जब भारत ने तीन युद्धों का सामना किया और इसके बाद के समय में भी जब समय-समय पर कई पार्टियों ने सरकार बनाई - विदेश नीति की भूमिका पार्टी की राजनीति में बड़ी सीमित रही।

कुछ आगे की... भारत का परमाणु-कार्यक्रम

भारत ने परमाणु अप्रसार के लक्ष्य को ध्यान में रखकर की गई संधियों का विरोध किया क्योंकि ये संधियाँ उन्हीं देशों पर लागू होने को थीं जो परमाणु शक्ति से हीन थे। इन संधियों के द्वारा परमाणु हथियारों से लैस देशों की जमात के परमाणु शक्ति पर एकाधिकार को वैधता दी जा रही थी। इसी कारण, 1995 में जब परमाणु-अप्रसार संधि को अनियतकाल के लिए बढ़ा दिया गया तो भारत ने इसका विरोध किया और उसने व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (कंप्रेहेंसिव टेस्ट बैन ट्रीटी-सीटीबीटी) पर भी हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया।

भारत ने 1998 के मई में परमाणु परीक्षण किए और यह जताया कि उसके पास सैन्य उद्देश्यों के लिए अनुशक्ति को इस्तेमाल में लाने की क्षमता है। इसके तुरंत बाद पाकिस्तान ने भी परमाणु परीक्षण किए। इससे क्षेत्र में परमाणु युद्ध की आशंका को बल मिला। अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी भारतीय उपमहाद्वीप में हुए इस परमाणु परीक्षण को लेकर बहुत नाराज थी और उसने भारत तथा पाकिस्तान, दोनों पर कुछ प्रतिबंध लगाए जिन्हें बाद में हटा लिया गया। भारत की परमाणु नीति में सैद्धांतिक तौर पर यह बात स्वीकार की गई है कि भारत अपनी रक्षा के लिए परमाणु हथियार रखेगा लेकिन इन हथियारों का 'प्रयोग पहले नहीं' करेगा। भारत की परमाणु नीति में यह बात दुहराई गई है कि भारत वैश्विक स्तर पर लागू और भेदभाव हीन परमाणु निशास्त्रीकरण के प्रति वचनबद्ध है ताकि परमाणु हथियारों से मुक्त विश्व की रचना हो।

विश्व राजनीति के बदलते समीकरण

जैसा कि आप इस किताब के छठे और नौवें अध्याय में पढ़ेंगे, 1977 के बाद के दौर में कई गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। इस दौर में विश्व राजनीति में भी नाटकीय बदलाव आ रहे थे। इनका भारत के विदेशी संबंधों पर क्या असर पड़ा?

1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी थी। इस सरकार ने घोषणा की कि सच्ची गुटनिरपेक्ष नीति का पालन किया जाएगा। इसका आशय यह था कि विदेश नीति में सोवियत संघ के प्रति आए झुकाव को खत्म किया जाएगा। इसके बाद की सभी सरकारों ने (कांग्रेसी या गैर-कांग्रेसी) चीन के साथ बेहतर संबंध बनाने और अमरीका के साथ नजदीकी रिश्ते बनाने की पहल की। भारतीय राजनीति में और आमतौर पर चलने वाली बहसों में भी भारत की विदेश नीति को विशेष तौर पर दो संदर्भों में देखा जाता है - एक तो पाकिस्तान को लेकर भारत के रुख के संदर्भ में और दूसरे भारत-अमरीका संबंधों के संदर्भ में। 1990 के बाद के दौर में अमरीका-समर्थक विदेश नीति अपनाने के लिए शासक दलों की आलोचना हुई है।

विदेश नीति हमेशा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर बनाई जाती है। रूस लगातार भारत का एक महत्वपूर्ण मित्र बना हुआ है लेकिन 1990 के बाद से रूस का अंतर्राष्ट्रीय महत्व कम हुआ है। इसी कारण भारत की विदेश नीति में अमरीका समर्थक रणनीतियाँ अपनाई गई हैं। इसके अतिरिक्त, मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में सैन्य-हितों के बजाय आर्थिक-हितों का ज्ओर ज्यादा है। इसका भी असर भारत की विदेश नीति में अपनाए गए विकल्पों पर पड़ा है। इसके साथ ही साथ, इस अवधि में भारत-पाक संबंधों में भी कई नयी बातें जुड़ीं। कश्मीर दोनों देशों के बीच मुख्य मसले के तौर पर कायम है लेकिन संबंधों को सामान्य बनाने के लिए दोनों देशों ने कई प्रयास किए हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान, नागरिकों की एक-दूसरे के देश में आवाजाही और पारस्परिक आर्थिक सहयोग को दोनों देशों ने बढ़ावा दिया। क्या आप जानते हैं कि भारत और पाकिस्तान के बीच रेल और बस सेवा की शुरुआत की गई है? यह हाल के समय की सबसे बड़ी उपलब्धि है। बहरहाल, इन सारे प्रयासों के बावजूद 1999 में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध की स्थिति पैदा हो गई थी। ऐसे माहौल में शांति प्रयासों को धक्का लगा लेकिन स्थायी तौर पर अमन कायम करने के लिए प्रयास जारी हैं।

प्रश्नोत्तर

1. इन बयानों के आगे सही या गलत का निशान लगाएँ:

| | |
|-----|--|
| (क) | गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने के कारण भारत, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका, दोनों की सहायता हासिल कर सका। |
| (ख) | अपने पड़ोसी देशों के साथ भारत के संबंध शुरूआत से ही तनावपूर्ण रहे। |
| (ग) | शीतयुद्ध का असर भारत-पाक संबंधों पर भी पड़ा। |
| (घ) | 1971 की शांति और मैत्री की संधि संयुक्त राज्य अमरीका से भारत की निकटता का परिणाम थी। |

2. निम्नलिखित का सही जोड़ा मिलाएँ:

| | | | |
|-----|---|-------|--|
| (क) | 1950-64 के दौरान भारत की विदेश नीति का लक्ष्य | (i) | तिब्बत के धार्मिक नेता जो सीमा पार करके भारत चले आए। |
| (ख) | पंचशील | (ii) | क्षेत्रीय अखंडता और संप्रभुता की रक्षा तथा आर्थिक विकास। |
| (ग) | बांग्ला सम्मेलन | (iii) | शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धांत। |
| (घ) | दलाई लामा | (iv) | इसकी परिणामि गुटनिरपेक्ष आंदोलन में हुई। |

3. नेहरू विदेश नीति के संचालन को स्वतंत्रता का एक अनिवार्य संकेतक क्यों मानते थे? अपने उत्तर में दो कारण बताएँ और उनके पक्ष में उदाहरण भी दें।

4. “विदेश नीति का निर्धारण घरेलू ज़रूरत और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के दोहरे दबाव में होता है।” 1960 के दशक में भारत द्वारा अपनाई गई विदेश नीति से एक उदाहरण देते हुए अपने उत्तर की पुष्टि करें।

5. अगर आपको भारत की विदेश नीति के बारे में फैसला लेने को कहा जाए तो आप इसकी किन दो बातों को बदलना चाहेंगे। ठीक इसी तरह यह भी बताएँ कि भारत की विदेश नीति के किन दो पहलुओं को आप बदलकर रखना चाहेंगे। अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।

6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

| | |
|-----|------------------------------------|
| (क) | भारत की परमाणु नीति |
| (ख) | विदेश नीति के मामलों पर सर्व-सहमति |

7. भारत की विदेश नीति का निर्माण शांति और सहयोग के सिद्धांतों को आधार मानकर हुआ। लेकिन, 1962-1971 की अवधि यानी महज दस सालों में भारत को तीन युद्धों का सामना करना पड़ा। क्या आपको लगता है कि यह भारत की विदेश नीति की असफलता है अथवा, आप इसे अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का परिणाम मानेंगे? अपने मंतव्य के पक्ष में तर्क दीजिए।

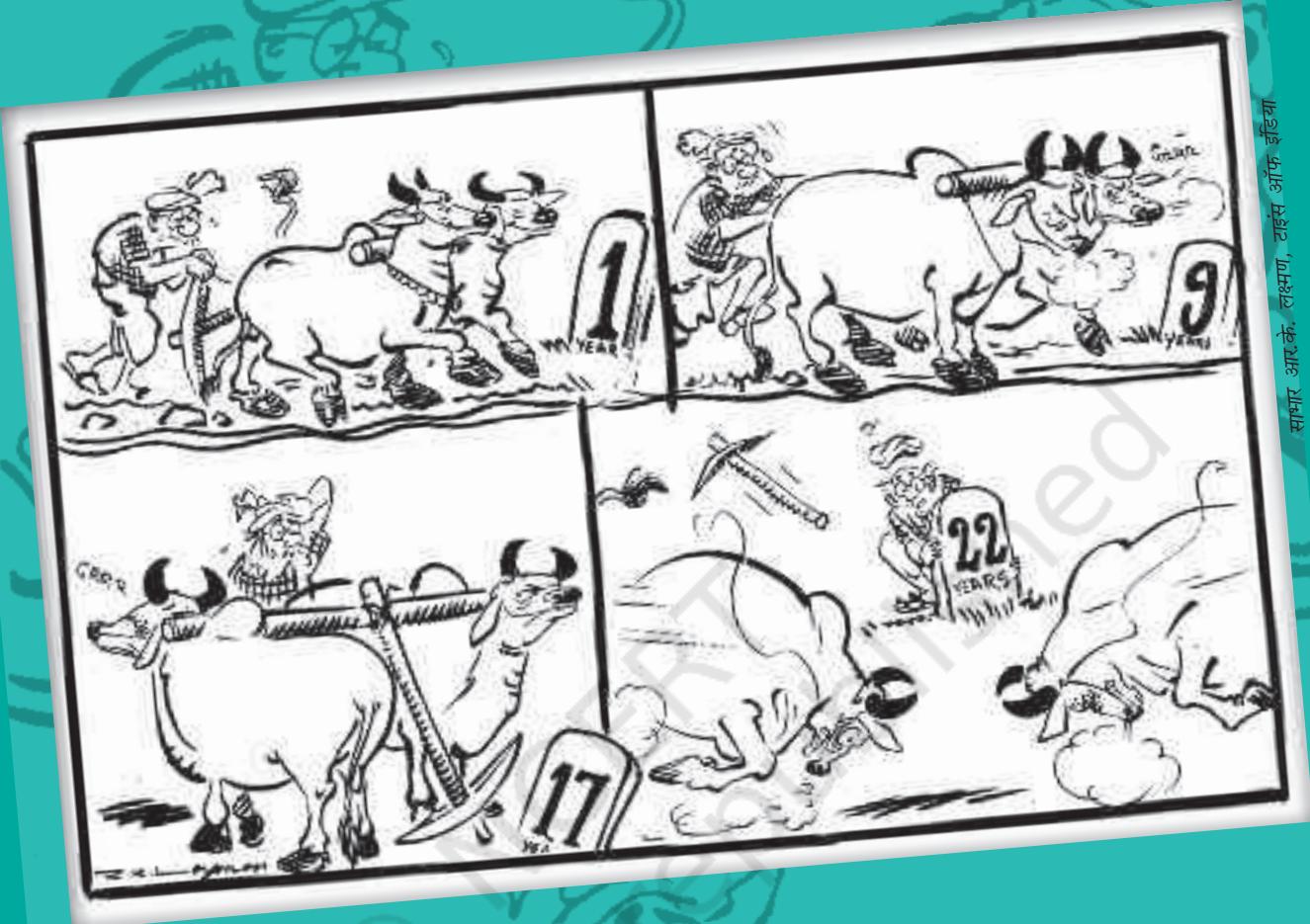
8. क्या भारत की विदेश नीति से यह झलकता है कि भारत क्षेत्रीय स्तर की महाशक्ति बनना चाहता है? 1971 के बांग्लादेश युद्ध के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार करें।

9. किसी राष्ट्र का राजनीतिक नेतृत्व किस तरह उस राष्ट्र की विदेश नीति पर असर डालता है?
भारत की विदेश नीति के उदाहरण देते हुए इस प्रश्न पर विचार कीजिए।

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
गुटनिरपेक्षता का व्यापक अर्थ है अपने को किसी भी सैन्य गुट में शामिल नहीं करना... इसका अर्थ होता है चीज़ों को यथासंभव सैन्य दृष्टिकोण से न देखना और इसकी कभी ज़रूरत आन पड़े तब भी किसी सैन्य गुट के नज़रिए को अपनाने की जगह स्वतंत्र रूप से स्थिति पर विचार करना तथा सभी देशों के साथ दोस्ताना रिश्ते कायम करना....

— जवाहरलाल नेहरू

- (क) नेहरू सैन्य गुटों से दूरी क्यों बनाना चाहते थे?
- (ख) क्या आप मानते हैं कि भारत-सोवियत मैत्री की संधि से गुटनिरपेक्षता के सिद्धांतों का उल्लंघन हुआ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।
- (ग) अगर सैन्य-गुट न होते तो क्या गुटनिरपेक्षता की नीति बेमानी होती?



इस अध्याय में...

आजादी के बाद शुरुआत में कांग्रेस का चुनाव चिह्न दो बैलों की जोड़ी था। इस प्रसिद्ध काटून में कांग्रेस के भीतर आए बदलावों को दर्शाया गया है। काटून में दिखाया गया है कि आजादी के 22 वर्ष गुजरते-गुजरते कांग्रेस किस कदर फूट का शिकार हो गई थी।

इस किताब के दूसरे अध्याय में आपने कांग्रेस प्रणाली के उद्भव के बारे में पढ़ा था। इस प्रणाली को 1960 के दशक में पहली बार चुनौती मिली। राजनीतिक प्रतिस्पर्धा गहन हो चली थी और ऐसे में कांग्रेस को अपना प्रभुत्व बरकरार रखने में मुश्किलें आ रही थीं। विपक्ष अब पहले की अपेक्षा कम विभाजित और कहीं ज्यादा ताकतवर था। कांग्रेस को इस विपक्ष की चुनौती का सामना करना पड़ा। कांग्रेस को अंदरूनी चुनौतियाँ भी झेलनी पड़ीं, क्योंकि अब यह पार्टी अपने अंदर की विभिन्नता को एक साथ थामकर नहीं चल पा रही थी। इस अध्याय में हम अपनी बात वहाँ से शुरू करेंगे, जहाँ पर दूसरे अध्याय में छोड़ी गई थी, ताकि हम समझ सकें कि

- नेहरू के बाद राजनीति ने क्या करवट ली;
- विपक्ष की एकता और खुद के बिखराव ने कांग्रेस के प्रभुत्व को कैसे चुनौती दी;
- इंदिरा गांधी के नेतृत्व में एक नयी कांग्रेस किस तरह इन चुनौतियों से उबरी; और
- कैसे नयी नीतियों तथा विचारधाराओं ने कांग्रेस प्रणाली की पुनर्वापसी की?